अच्छे बनो

(हिन्दी)

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या

★

ॐ

॥ श्रीहरिः ॥

अच्छे बनो

अगर मनुष्य अपनी चीज (परमात्मा) को अपनी मान ले, परायी चीज (शरीर-संसार) को अपनी न माने तो बस, एकदम मुक्त हो जाय—इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। गीतामें जहाँ गुणातीत महापुरुषके लक्षण लिखे हैं, वहाँ **'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (१४। २४) लिखा है, जो अपने-आपमें, अपनी जगह स्थित हो जाता है, वह सुख-दुःखमें सम हो जाता है, मुक्त हो जाता है, यह जो दूसरेसे आशा रखना है, यह महान् कायरता है, बड़ी भारी निर्बलता है। यह कायरता, निर्बलता अपनी बनायी हुई है, मूलमें है नहीं। आप अपनी जगह बैठें, अपनी चीजको अपनी मानें, परायी चीजको अपनी न मानें—इसमें निर्बलता, कठिनता क्या है?

दूसरे लोग मेरेको क्या कहेंगे, क्या समझेंगे—यह भय महान् अनर्थ करनेवाला है। इस भयको छोड़कर निधड़क हो जाना चाहिये। दूसरे खराब कहते हैं तो हम डरते हैं, तो क्या दूसरे खराब नहीं कहेंगे? वे तो जैसी मरजी होगी, वैसा कहेंगे। हम भयभीत हों तो भी वे वैसा ही कहेंगे और भयभीत न हों तो भी वे वैसा ही कहेंगे। उनके मनमें जैसी बात आयेगी, वैसा कहेंगे वे। क्या हमारे भयभीत होनेसे वे हमारेको अच्छा कहने लग जायँगे? यह सम्भव ही नहीं है। दूसरे क्या कहते हैं—इसको न देखकर अपनी बातपर डटे रहो, अपने कामपर ठीक रहो, यह बहुत बड़े लाभकी बात है।

अभी कल-परसोंकी बात होगी। एक प्रसंग चला तो मैंने कहा—आपके निःशंक, निर्भय होनेमें एक ही बात है कि अगर आपको कोई खराब कहे तो आप अपनी दृष्टिसे अपनेको देखो कि मैंने तो कोई गलती नहीं की, न्यायविरुद्ध कोई काम नहीं किया। इस तरह अपनेपर जितना विश्वास कर सकें, दृढ़तासे जितना रह सकें उतना रह जाओ तो आपके सब भय मिट जायँगे। हमने जब कोई गलती नहीं

****

की तो डर किस बातका ? अपने आचरणपर, अपने भावपर आप दृढ़ रहो। इससे बड़ा भारी बल मिलता है। उनके सामने तो मैंने यह भी कहा कि इसको मैंने करके देखा है। आप भी करके देख लो। हम जब ठीक हैं, सच्चे हैं, तो फिर भय किस बातका ? अपनेपर अपना विश्वास न होनेसे ही अनर्थ होते हैं। हम जब अपनी जगह बहुत ठीक हैं, हमारी नीयत ठीक है, कार्य ठीक है, विचार ठीक है, भाव ठीक है, तो फिर दूसरेसे कभी किञ्चिन्मात्र भी आशा मत रखो, इच्छा मत करो कि दूसरा हमें अच्छा समझे। दूसरेके बुरा समझनेसे भय मत करो। दूसरा कितना ही बुरा समझे, हम तो जैसे हैं, वैसा ही रहेंगे। अगर हम अच्छे नहीं हैं और सब लोग हमें अच्छा समझते हैं, तो क्या हमारा अच्छापन सिद्ध हो जायगा ?

श्रोता—यदि अपनी गलती अपनेको नजर नहीं आये तो ?

स्वामीजी—अपनी गलती अपनेको नजर नहीं आनेका कारण है—स्वार्थ और अभिमान। स्वार्थ और अभिमानसे ऐसा ढक्कन लग जाता है कि अपनी गलती अपनेको नहीं दीखती। अतः स्वार्थ और अभिमान न करें। स्वार्थ और अभिमानका त्याग करनेसे बहुत प्रकाश मिलेगा और अपनी गलती दीखने लग जायगी।

एक उपाय यह है कि अपनेमें जो अवगुण दीखे, उसको दूर करते जाओ। ऐसा करनेसे आपको न दीखनेवाले अवगुण भी दीखने लग जायँगे। अतः जिन अवगुणोंका आप सुगमतासे त्याग कर सकते हैं, उनका आप त्याग कर दें तो जिन अवगुणोंके त्यागमें आपको कठिनता दीखती है, उनका त्याग सुगमतासे होने लगेगा और न दीखनेवाले अवगुण दीखने लग जायँगे। यह बड़ा भारी रामबाण उपाय है, आप करके देखो।

सत्संगके द्वारा जिन-जिन कमजोरियोंका ज्ञान हो, उनमें जिन कमियोंको सुगमतासे दूर कर सकते हैं, उनको दूर कर दो। जैसे कल्पना करो कि हमारी झूठ बोलनेकी आदत है, तो जिस झूठसे हमारा कोई

संसारका, रुपये-पैसोंका मतलब नहीं है, ऐसा झूठ नहीं बोलें। हम बिना मतलब झूठ बोलते हैं कि 'अरे भाई ! उठ जा, दोपहर हो गया, उठता ही नहीं।' अगर हम सच्ची बात बोलें कि 'सूर्योदय हो रहा है, उठ जा' तो इसमें क्या हर्ज है ? बिना मतलब झूठ बोलोगे तो आदत बिगड़ जायगी।

जो अवगुण साफ दीखता है, जिसको दूर करनेमें कोई परिश्रम नहीं, कोई हानि नहीं, उसको आप दूर कर दो तो अवगुण साफ-साफ दीखने लग जायँगे। अगर अपना अवगुण न दीखे तो उसकी चिन्ता मत करो और अवगुणको अपनेमें कायम भी मत करो, क्योंकि स्वरूपमें कोई अवगुण नहीं है। नीयत यह होनी चाहिये कि अपना अवगुण, अपनी कमी हमें रखनी नहीं है।

अगर आप अपनेको ही नहीं सुधार सकते, तो दूसरेको सुधार सकते हैं क्या ? सच्ची बात तो यह है कि अपना सुधार कर लेनेपर भी दूसरेका सुधार कोई नहीं कर सकता। बड़े-बड़े महात्मा हुए हैं, आचार्य हुए हैं, वे भी दूसरेका सुधार नहीं कर सके, दूसरेको अपने समान नहीं बना सके। मैं आक्षेपसे नाम नहीं लेता हूँ, बहुत विशेष आदरसे नाम लेता हूँ कि शंकराचार्य महाराजने दूसरा शंकराचार्य बना दिया क्या ? रामानुजाचार्य महाराजने दूसरा रामानुजाचार्य बना दिया क्या ? वल्लभाचार्य महाराजने दूसरा वल्लभाचार्य बना दिया क्या ? अगर शिष्य चाहे तो गुरुसे तेज हो सकता है, पर गुरु उसको वैसा नहीं बना सकता। इस बातपर आप विचार करें। अपनेको श्रेष्ठ बनाना तो हाथकी बात है, पर दूसरेको श्रेष्ठ बनाना हाथकी बात नहीं है।

जितने भी श्रेष्ठ गुरु हुए हैं, उनका उद्योग यही रहा है कि शिष्य हमारेसे भी अच्छा बने। वे शिष्यको अपनेसे नीचा नहीं रखना चाहते। जो शिष्यको अपना मातहत, अपने अधीन रखना चाहते हैं, वे वास्तवमें गुरु कहलाने लायक नहीं हैं। गुरु तो गुरु ही बनाता है, चेला नहीं बनाता। शास्त्रमें लिखा है—

सर्वतो जयमिच्छेत् पुत्रादिच्छेत् पराभवम्।

****

अर्थात् मनुष्य सब जगह अपनी विजय चाहे, पर पुत्रसे अपनी पराजय चाहे। ईमानदार पिताको यह इच्छा रखनी चाहिये कि मेरा पुत्र मेरेसे तेज हो जाय। ऐसे ही ईमानदार गुरुको यह इच्छा रखनी चाहिये कि मेरा शिष्य मेरेसे तेज हो जाय। परन्तु ऐसी इच्छा रखनेसे वह तेज नहीं हो जाता। हाँ, अगर वह (पुत्र या शिष्य) खुद चाहे तो वैसा हो सकता है, एकदम पक्की बात है। खेड़ापामें श्रीरामदासजी महाराज हुए। उनके शिष्य श्रीदयालजी महाराज हुए। खेड़ापाके बहुत-से ऐसे साधु हैं, जो श्रीदयालजी महाराजको जितना याद करते हैं, उतना श्रीरामदासजी महाराजको याद नहीं करते। खेड़ापाके ही नहीं और जगहके भी साधु श्रीदयालजी महाराजके 'करुणासागर' का पाठ करते हैं। आप जरा विचार करें, कितनी विलक्षण बात है! अगर आप अपने अवगुण देखकर उनको दूर करते जाओ तो आप अपने गुरुसे भी तेज हो जाओगे, इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। गुरुजनोंके मनमें यही बात रहती है कि हमारा शिष्य हमारेसे भी श्रेष्ठ बन जाय। जो अच्छे-अच्छे उपदेष्टा हुए हैं, अच्छे-अच्छे व्याख्यानदाता हुए हैं, सच्चे हृदयसे गुरु हुए हैं, उनकी भावना यही रहती है कि हमारा शिष्य सबसे श्रेष्ठ हो जाय। हमने ऐसे गुरुजन देखे हैं। हमारे विद्यागुरुजी महाराज थे। उनका हम सबके प्रति यह भाव रहता था कि ये श्रेष्ठ हो जायँ। हम लड़के लोग रात्रिमें दीपकके पास बैठकर पढ़ते थे। कभी नींद आने लगती तो वे खिड़कीमेंसे देख लेते और बोलते— ''अरे! यों क्या करते हो?' हमें हरदम भय रहता कि महाराज देखते होंगे। वे चुपके-से आकर देखते और फिर बादमें पूछा करते कि 'वहाँ कैसे खड़ा था? ऐसे कैसे करता था वहाँ?' उनमें विद्यार्थियोंको पढ़ानेकी, तैयार करनेकी बड़ी लगन थी। मेरेको उन्होंने कई बार कहा कि मैं यह चाहता हूँ कि 'कहीं कोई पंचायती पड़े, कोई शास्त्रीय उलझन पड़े तो उसमें हमारा शुकदेव निर्णायक बने। सभी इससे पूछें और यह निर्णय दे—ऐसा मैं देखना चाहता हूँ।' यह भी कहा कि 'मैं जैसा चाहता हूँ;

वैसा बना नहीं सका।' अतः जो अच्छे गुरुजन होते हैं, वे ऐसे ही होते हैं। माँ-बाप भी ऐसे ही होते हैं। वे चाहते हैं कि हमारा शिष्य, हमारा पुत्र हमारेसे भी तेज हो, पर वे बना नहीं सकते। शिष्य या पुत्र अगर चाहे तो उनसे तेज बन सकता है, इसमें बिलकुल सन्देह नहीं है। इसलिये गीतामें कहा गया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ (६।५)

अर्थात् अपने-आपसे अपना उद्धार करना चाहिये। अपने-आपसे अपना पतन नहीं करना चाहिये। आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु है। अतः आप अपनी जगह ठीक हो जाओ तो आप श्रेष्ठ बन जाओगे—इसमें संदेह नहीं है। लोग मेरेको अच्छा कहें—यह आशा मत रखो। कोई मेरेको बुरा न कह दे—यह भय बहुत ही पतन करनेवाला है। यह भय करोगे तो कभी ऊँचा नहीं उठ सकोगे। जो दूसरोंके सर्टिफिकेटपर निर्णय करता है, वह ऊँचा कैसे उठेगा ? दूसरे सब-के-सब श्रेष्ठ कह दें—यह हाथकी बात नहीं है। जो अवगुण आपमें नहीं है, वह अवगुण लोग आपमें बतायेंगे—'**अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः**' (२।३६)। लोग तो न कहनेलायक बात भी कहेंगे। वे मनमें जानते हैं कि यह ऐसा नहीं है, फिर भी आपको चिढ़ानेके लिये, दुःखी करनेके लिये वैसी बात कहेंगे। आजकल जो वोट लेनेके लिये खड़े होते हैं, वे मनमें जानते हैं कि हमारे विपक्षमें जो आदमी खड़ा है, वह हमारेसे अच्छा है, पर ऐसा जानते हुए भी वे उसकी निन्दा ही करेंगे कि यह खराब है, हम अच्छे हैं। इसलिये आप अच्छे बनो, पर लोगोंसे यह आशा मत रखो कि वे आपको अच्छा कहें। वे आपको अच्छा जानते हुए भी अच्छा नहीं कहेंगे, बुरा कहेंगे। आपको अच्छा कहनेकी उनमें ताकत नहीं है। आप प्रतीक्षा करो कि लोग हमें अच्छा कहें—यह कितनी बड़ी भूल है ! अच्छा कहलानेकी इच्छा छोड़ दो। अच्छा कहलाओ मत; अच्छे बनो।

★

वास्तविक बड़प्पन

उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुको लेकर आप अपनेमें बड़प्पन अथवा नीचपनका अनुभव करते हैं—यह बहुत बड़ी भूल है। जैसे, कोई धनको लेकर अपनेको बड़ा मानता है, कोई मकानको लेकर अपनेको बड़ा मानता है, कोई बढ़िया कपड़े पहनकर अपनेको बड़ा मानता है, कोई ऊँचा पद प्राप्त करके अपनेको बड़ा मानता है और कोई इन चीजोंके न मिलनेसे अपनेको छोटा मानता है। यह बहुत बड़ी भूल है। आप स्वयं परमात्माके अंश, चेतन हैं और जड़ चीजोंको लेकर आप अपनेको बड़ा-छोटा मानते हैं—यह आपकी तुच्छता है। जड़ चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा मानना भी तुच्छता है और छोटा मानना भी तुच्छता है। आप तो इन चीजोंका उपार्जन करनेवाले हैं, इनका उपयोग करनेवाले हैं, इनके आदि और अन्तको जाननेवाले हैं, फिर आप इनके गुलाम क्यों हो जाते हैं? धन मिलता है और बिछुड़ जाता है, श्रोता मिलते हैं और बिछुड़ जाते हैं—इस प्रकार जिसके आदि और अन्तको जानते हैं, उसके मिलनेसे अपनेको बड़ा या छोटा मानना कितनी गलती है! थोड़ा विचार करो तो यह बात अक्लमें आ जाती है कि अगर पद मिलनेसे हम बड़े हुए तो वास्तवमें हम छोटे ही रहे, पद बड़ा हुआ। रुपये मिलनेसे हम बड़े हुए तो बड़े रुपये ही हुए, हम बड़े नहीं हुए। अतः इस बातको आप आज ही और अभी मान लें कि अब हम आने-जानेवाली वस्तुओंको लेकर अपनेको बड़ा और छोटा नहीं मानेंगे।

स्वयं आप बहुत बड़े हैं, साधारण रीतिसे तो आप भगवान्‌के अंश हैं और भगवान्‌की भक्तिमें लग जायँ तो भगवान्‌के मुकुटमणि हैं। भगवान् कहते हैं—

मैं तो हूँ भगतनका दास, भगत मेरे मुकुटमणि।

जिसको भगवान् अपना मुकुटमणि कहते हैं, वे ही आप हैं। भक्त कब बनता है? जड़ताकी दासता छूटी और भक्त बना! इसलिये आप अभी-अभी यह बात धारण कर लें कि अब हम उत्पत्ति-विनाशवाली तुच्छ चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा और छोटा नहीं

मानेंगे। आप इन चीजोंका उपार्जन करो, इनका उपयोग करो, इनको काममें लाओ, पर इनके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा मत मानो। इन चीजोंको लेकर अपनेमें फूँक भर जाती है न, यह गलती होती है। अब बताओ, इसे माननेमें कोई कठिनता है क्या? कठिनता नहीं है तो अभी-अभी, इसी क्षण मान लें। इसमें देरीका काम नहीं है। कोई तैयारी करनी पड़े, कोई विद्वत्ता लानी पड़े, कोई बल लाना पड़े, कोई योग्यता लानी पड़े—इसकी बिलकुल जरूरत नहीं है। अभी इसी क्षण स्वीकार कर लें कि जड़ चीजोंसे हम अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे। जड़ चीजोंको लेकर अपनेको बड़ा मानना महान् पराधीनता है। पराधीन व्यक्तिको स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता—***'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'*** (मानस, बाल० १०२।३)। हम तो भगवान्‌के हैं और भगवान् हमारे हैं—ऐसा मान लोगे तो आप वास्तवमें बड़े हो जाओगे।

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी॥

(मानस, उत्तर० ११७।१)

सहजसुखराशि होते हुए भी स्वयं दुःखी कब होता है? जब यह नाशवान्‌की पराधीनता स्वीकार कर लेता है, तब यह दुःखी हो जाता है, नहीं तो यह दुःखी हो नहीं सकता। आप दुःखको तो चाहते नहीं, पर दुःखकी सामग्री बटोरते हैं! दुःखी होना चाहते नहीं, पर नाशवान् चीजोंकी पराधीनता स्वीकार करते हैं! पराधीनतामें सुख है ही नहीं, स्वप्नमें भी नहीं है।

श्रोता—जिसमें गुण होते हैं, उसके पास आदमी ज्यादा जाते हैं!

स्वामीजी—गुण होनेसे उसके पास ज्यादा आदमी जाते हैं, तो गुण कौन-सा उसका स्वरूप है? गुण भी उसने लिया है। गुण नहीं रहेगा तो लोग उसके पास नहीं जायँगे। आप विचार करें कि दूसरोंके जानेसे वह बड़ा कैसे हो गया? अगर लोगोंके जानेसे वह बड़ा हुआ, तो उसका बड़प्पन पराधीन ही तो हुआ। लोग जायें तो बड़ा हो गया

और लोग न जायें तो छोटा हो गया—यह तो पराधीनता हुई, बड़प्पन कैसे हुआ ?

हम किसी गुणके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं, विद्याके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं, पदके कारण अपनेको बड़ा मानते हैं, लोगोंके द्वारा आदर-सत्कार होनेपर अपनेको बड़ा मानते हैं तो यह सब-की-सब पराधीनता है। कोई आये चाहे न आये, गुण हो चाहे न हो, लोग अच्छा मानें चाहे बुरा मानें, उनसे हमें क्या मतलब है ? हम तो जैसे हैं, वैसे ही रहेंगे। आप हमें बड़ा मान लें तो क्या हम बड़े हो जायँगे। आप छोटा मान लो तो क्या हम छोटे हो जायँगे ? जो दूसरोंके द्वारा अपनेको बड़ा या छोटा मानता है, वह कभी बड़ा हो सकता है क्या ? स्वप्नमें भी नहीं हो सकता। जो दूसरी वस्तुओंके अधीन अपना बड़प्पन मानता है, वह सुखी कैसे हो सकता है ? उसने तो महान् गुलामी पकड़ ली। रुपये इकट्ठे कर लिये, कागज इकट्ठे कर लिये, हीरे-पन्ने इकट्ठे कर लिये, पत्थरोंके टुकड़े इकट्ठे कर लिये और मान लिया कि हम बड़े हो गये। तुम बड़े कैसे हो गये ? आपके पास धन आ गया है तो उसका सदुपयोग करो, उसको अच्छे-से-अच्छे काममें लगाओ। उसके आनेसे आप बड़े हो गये तो आपकी तो बेइज्जती ही हुई।

भगवान् आने-जानेवाले नहीं हैं, वे रहनेवाले हैं। उनको आप अपना मानोगे तो आप असली बड़े हो जाओगे। असली बड़े हो जाओगे तो आपमें बड़प्पनका अभिमान नहीं आयेगा और छोटेपनका भय नहीं रहेगा कि कोई हमें छोटा न मान ले। आपको कोई छोटा मान ले तो क्या हानि हो जायगी ? और बड़ा मान ले तो क्या लाभ हो जायगा ? आप जिसके हैं और जो आपका है, उस परमात्माके साथ आप अपना सम्बन्ध ठीक स्वीकार कर लें तो आप वास्तवमें बड़े हो जायँगे। फिर आपमें बड़े-छोटे होनेका अभिमान और दीनता नहीं रहेगी। परन्तु दूसरी वस्तुओंके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा मानोगे तो अभिमान और दीनता कभी जायगी नहीं।

आने-जानेवाली चीजोंके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा मानना ही तो बन्धन है। बन्धन कोई जानवर थोड़े ही होता है! यह बन्धन छूटा और मुक्त हुए। दूसरोंके द्वारा हम अपनेको बड़ा-छोटा स्वीकार न करें तो हम मुक्त हो गये कि नहीं? स्वाधीन हो गये कि नहीं? बताओ।

श्रोता—ठीक बात है महाराजजी!

स्वामीजी—ठीक बात है तो फिर हम पराधीन क्यों रहे? आप कृपा करो, अभीसे यह मान लो कि हम पदके द्वारा अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे, धनके द्वारा अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे। लोग हमारा आदर करें तो अपनेको बड़ा नहीं मानेंगे। लोग हमारा निरादर कर दें तो अपनेको छोटा नहीं मानेंगे। हमें परवाह नहीं कि लोग हमें अच्छा मानें। यह बात आप मान सकते हो कि नहीं?

श्रोता—हाँ, मान सकते हैं।

स्वामीजी—तो फिर देरी क्यों करते हो? किसकी प्रतीक्षा करते हो आप? किसी परिस्थितिकी प्रतीक्षा करते हो, किसी बलकी प्रतीक्षा करते हो, किसी समयकी प्रतीक्षा करते हो, किसी सहारेकी प्रतीक्षा करते हो, किसी उपदेशकी प्रतीक्षा करते हो; किसकी प्रतीक्षा करते हो, बताओ? मेरी तो प्रार्थना है कि आप अभी-अभी मान लो कि अब हम इन आने-जानेवाली तुच्छ चीजोंके द्वारा अपनेको बड़ा-छोटा नहीं मानेंगे। भगवान्‌ने कहा है—

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

(गीता २। १४)

अर्थात् जो आने-जानेवाले हैं, अनित्य हैं, उनको सह लो सहनेका अर्थ है उनके आने-जानेका असर अपनेपर न पड़े। उनका असर अपनेपर न पड़े तो इतनी शान्ति, इतना आनन्द होगा, जिसका कोई पारावार नहीं है। आप करके देखो। सच्ची बात है, मैं धोखा नहीं देता हूँ। ऐसी मस्ती आयेगी, जैसे कोई कीचड़मेंसे बाहर निकल आये।

═══ ★ ═══

सेवा कैसे करें

श्रोता—सेवा करनेके लिये हमारे पास न तो धन है, न बल है, न बुद्धि है, न योग्यता है, न सामर्थ्य है; कोई भी सामग्री हमारे पास नहीं है, पर हम सेवा करना चाहते हैं तो कैसे करें ?

स्वामीजी—बहुत बढ़िया प्रश्न है। इसका उत्तर भी घटिया नहीं होगा, ध्यान देकर सुनना। सेवा करनेका अर्थ है—दूसरेका हित हो और प्रसन्नता हो। वर्तमानमें उसकी प्रसन्नता हो और परिणाममें उसका हित (कल्याण) हो, इसके सिवाय सेवा और क्या होती है ?

जब हमारे पास शक्ति ही नहीं, तो फिर हम दूसरेकी प्रसन्नता कैसे लें—इसके लिये आपको अपनी दृष्टिमें बहुत बढ़िया बात बताता हूँ। एक धनी आदमी है। उसको घाटा लग जाय, कोई भयंकर बीमारी हो जाय, बेटा मर जाय, ऐसी हालतमें आप उसके दुःखमें सहमत हो जाओ कि आपका बेटा मर गया, यह बहुत बुरी बात हुई। आपको घाटा लग गया, यह बड़ा बेठीक काम हुआ। इस तरह हृदयसे उसके दुःखमें सम्मिलित हो जाओ तो वह प्रसन्न हो जायगा, उसकी सेवा हो जायगी। ऐसे ही किसीके पास बहुत धन-सम्पत्ति हो जाय, लड़का बड़ा होशियार हो जाय तो उसे देखकर हृदयसे खुश हो जाओ और कहो कि वाह-वाह बहुत अच्छा हुआ। इससे वह प्रसन्न हो जायगा।

संतोंके लक्षणोंमें आया है—***'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'*** (मानस ७। ३८। १)। दूसरोंके दुःखसे दुःखी हो जायँ और दूसरोंके सुखसे सुखी हो जायँ—यह सेवा आप बिना रुपये-पैसेके, बिना बलके, बिना सामग्रीके कर सकते हैं। दूसरोंको दुःखी देखकर आप दुःखी हो जाओ कि 'हे नाथ! क्या करें? हमारे पास कोई सामग्री नहीं, धन नहीं, बल नहीं, जिससे हम दूसरोंको सुखी कर सकें, हम क्या करें ?'—इस तरह आप हृदयसे दुःखी हो जाओ और दूसरोंको सुखी देखकर हृदयसे प्रसन्न हो जाओ तो यह आपकी बड़ी भारी सेवा होगी। जिसके हृदयमें ऐसा भाव होता है, उस पुरुषके दर्शनमात्रसे लोगोंको शान्ति मिलती है।

धन आदिसे हम दूसरोंकी सेवा करेंगे, उपकार करेंगे, यह बहुत ही स्थूल बुद्धि है। मैं तो कहता हूँ कि नीच बुद्धि है। आपने सेवाको महत्त्व नहीं दिया है, धनको महत्त्व दिया है। जो धनको महत्त्व देता है, वह नीच है। जो आपके हाथका मैल है, उसको आप अपनेसे भी बढ़कर महत्त्व देते हो और लोगोंकी सेवाके लिये भी उसकी आवश्यकता समझते हो—यह बहुत ही खोटी (खराब) बुद्धि है। धन आदिसे सेवा करनेपर अभिमान होता है, तिरस्कार होता है। जिसकी सेवा करोगे, उसपर भी रोब जमाओगे कि 'हमने इतना तुम्हारेको दिया है, इतनी सहायता की है।' वह अगर आपके विरुद्ध हो जायगा तो निन्दा करोगे कि 'देखो, हमने इसकी इतनी सहायता की और यह हमारा विरोध करता है।' इस प्रकार संघर्ष पैदा होगा ! आप अपनी विद्वत्तासे सेवा करोगे और कहीं दूसरा भी ऐसे करेगा तो ईर्ष्या पैदा होगी। हम बढ़िया व्याख्यान देते हैं और दूसरेका व्याख्यान हमारेसे भी बढ़िया हो गया तो ईर्ष्या होगी। कहते हो कि जनताकी सेवा करते हैं, पर वास्तवमें सेवा नहीं करते हो, लड़ाई करते हो।

ऐसे आदमी बहुत कम मिलेंगे, जो वास्तवमें सेवा करते हैं। हम राम-नामका माहात्म्य बताते हैं, लोगोंको नाम-जपमें लगाते हैं, पर दूसरा कोई लोगोंको नाम-जपमें लगाता है तो वह इतना नहीं सुहाता। हमारे कहनेसे कोई नाम-जपमें लग जाय तो हम राजी होते हैं, पर दूसरेके कहनेसे कोई नाम-जपमें लग जाय तो हम उतने राजी नहीं होते, जब कि हमें उससे भी ज्यादा राजी होना चाहिये कि हमारा परिश्रम तो हुआ ही नहीं और काम हमारा हो गया !

कोई व्यक्ति हमारे मतको नहीं मानता, हमारे सिद्धान्तको नहीं मानता, प्रत्युत हमारे सिद्धान्तका खण्डन करता है, हमारी मान्यताका, हमारी साधन-पद्धतिका खण्डन करता है, पर राम-नामका प्रचार करता है, लोगोंसे नाम-जप करनेके लिये कहता है, तो उससे हमारे भीतर क्या बुद्धि पैदा होती है ? हमें नामका प्रचार तो अच्छा लग जायगा,

पर उसके कहनेसे लोग नाम-जप करते हैं—यह अच्छा नहीं लगेगा, क्योंकि वह हमारे सिद्धान्तका, हमारे मतका, हमारी साधन-प्रणालीका खण्डन करता है। इस प्रकार हम खण्डनको जितना महत्त्व देते हैं, उतना नामके प्रचारको नहीं देते हैं। हम नामके प्रेमी नहीं हैं, हम अपने मतके, अपने गुरुके प्रेमी हैं। हमारे गुरुजीको मानो, तब तो ठीक है, पर हमारे गुरुजीको नहीं मानो और राम-राम करो तो कुछ नहीं होगा—यह मतवालेकी बात है। अगर वास्तवमें हमें नामकी महिमा अभीष्ट है तो कोई नास्तिक-से-नास्तिक, नीच-से-नीच व्यक्ति भी नामकी महिमा कहे तो मन-ही-मन आनन्द आना चाहिये, हृदयमें उल्लास होना चाहिये कि वाह-वाह, इसने बात बहुत बढ़िया कही। इसका नाम है—सेवा।

दूसरेका सदाव्रत बहुत अच्छा चलता है, वह बढ़िया भोजन देता है और सबका आदर करता है। लोगोंमें उसकी महिमा होती है। हम भी सदाव्रत खोलते हैं, पर हमारी महिमा नहीं होती तो हमारे भीतर ईर्ष्या होती है कि नहीं? अगर ईर्ष्या होती है तो हमारे द्वारा बढ़िया सेवा नहीं हुई। वास्तवमें तो हमें खुशी आनी चाहिये कि वहाँ बढ़िया भोजन मिलता है, हमारे यहाँ तो साधारण भोजन मिलता है। हम उपकारका जो काम करते हैं, वही काम दूसरा शुरू कर दे तो उससे हमारेमें ईर्ष्या पैदा होती है, द्वेष पैदा होता है तो यह हम सेवा नहीं कर रहे हैं, सेवाका वहम है।

किसी भी तरहसे, किसीके द्वारा ही सेवा हो जाय तो हम प्रसन्न हो जायँ। जो सेवा करता है, उसको देखकर और जिनकी सेवा होती है, उनको देखकर हम प्रसन्न हो जायँ कि वाह-वाह, कितनी बढ़िया बात है! हमारे पास एक कौड़ी भी लगानेको नहीं हो, पर हम प्रसन्न हो जायँ, उस सेवामें सहमत हो जायँ तो हमारे द्वारा सेवा हो जायगी। बोलो, इसमें क्या कठिनता है? इसमें कोई सामग्री नहीं चाहिये, अपना हृदय चाहिये। सेवा वस्तुओंसे नहीं होती है, हृदयसे होती है।

लोगोंमें यह वहम रहता है कि इतना धन हो जाय तो हम ऐसी-ऐसी सेवा करेंगे। विचार करना चाहिये कि जिनके पास उतना धन है, वे सेवा करते हैं क्या ? वे तो सेवा नहीं करते और हम करेंगे ! जब धन हो जाय, तब देखना ! नहीं होगी सेवा। जिस समय पैसा हो जायगा, उस समय यह भाव नहीं रहेगा। भाव बदल जायगा। हमने देखे हैं ऐसे आदमी। केवल पुस्तकोंकी बात नहीं कहता हूँ। कलकत्तेके एक सज्जन दलाली करते थे और स्वर्गाश्रम, ऋषिकेशमें सत्संगके लिये आया करते थे। बड़ा उत्तम स्वभाव था उनका। वे कहते थे कि हम तो दलाली करते हैं, वह भी छोड़कर हम सत्संगमें आ जाते हैं और इनके पास इतना-इतना धन है, पर ये सत्संगमें नहीं आते। इनको क्या बाधा लगती है ? परन्तु आगे चलकर जब उनके पास धन हो गया, तब उनका सत्संगमें आना कम हो गया। उनको सत्संगमें आनेका समय ही नहीं मिलता। कारण कि धन बढ़ेगा तो कारोबार भी बढ़ेगा और कारोबार बढ़ेगा तो समय कम मिलेगा। अतः जबतक धन नहीं है, तबतक और विचार रहता है, पर धन होनेपर वह विचार नहीं रहता। किसी-किसीका वह विचार रह भी जाता है, पर वे शूरवीर ही हैं, जिन्होंने धनको पचा लिया। प्रायः धन पचता नहीं, अजीर्ण हो जाता है। बलका अजीर्ण हो जाता है। पहले विचार रहता है कि बल हो तो हम ऐसा-ऐसा करें, पर बल होनेपर निर्बलको दबाते हैं। जब वोट माँगते हैं, उस समय कहते हैं कि हम आपकी सेवाके लिये ये-ये काम करेंगे, पर मिनिस्टर बननेपर आपको पूछेंगे भी नहीं। क्या यह सेवा है ? यह सेवा नहीं है, स्वार्थ है। एक गाँवमें एक आदमी गया तो उसने कहा कि तुम्हारे गाँवमें इतना कूड़ा-कचरा पड़ा है, क्या सफाई करनेके लिये मेहतर नहीं आता ? वे बोले—पाँच वर्षके बाद आता है मेहतर ! पहले कोई नहीं आता ? जब वोट माँगने आते हैं, तब मेहतर आता है।

दूसरा कोई सेवा करता है तो हमारेको बुरा क्यों लगता है ? कि

हमारी महिमा नहीं हुई, उसकी महिमा हो गयी। उसने अन्नक्षेत्र खोल दिया, विद्यालय खोल दिया, व्याख्यान देना शुरू कर दिया तो उसकी महिमा हो गयी, हमारी महिमा नहीं हुई। यह सेवा करना है या अपनी महिमा चाहना है ? कसौटी कसकर देखो तो पता लगे। सेवाका तो बहाना है। अच्छाईके चोलेमें बुराई रहती है—*'कालनेमि जिमि रावन राहू'* ऊपर अच्छाईका चोला है, भीतर बुराई भरी है। यह बुराई भयंकर होती है। जो बुराई चौड़े (प्रत्यक्ष) होती है, वह इतनी भयंकर नहीं होती, जितनी यह भयंकर होती है।

असली सेवा करनेका जिसका भाव होगा, वह दूसरेके दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी हो जायगा। दूसरोंके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी न होकर कोई सेवा कर सकता है क्या ? जबतक दूसरोंके दुःखसे दुःखी और सुखसे सुखी नहीं होगा, तबतक सेवा नहीं होगी। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी होगा, वह अपना सुख दूसरोंको देगा, स्वयं सुख नहीं लेगा; और दूसरोंके सुखसे सुखी होगा, उसको अपने सुखके लिये संग्रह नहीं करना पड़ेगा। यह बात कण्ठस्थ कर लो कि दूसरोंके दुःखसे दुःखी होनेवालेको अपने दुःखसे दुःखी नहीं होना पड़ता और दूसरोंके सुखसे सुखी होनेवालेको अपने सुखके लिये भोग और संग्रह नहीं करना पड़ता।

संसारसे मिली हुई सामग्रीको अपनी मानकर सेवामें लगाओगे तो अभिमान आयेगा। अतः सेवाके लिये सामग्रीकी जरूरत नहीं है, हृदयकी जरूरत है।

★

मानव-जीवनका उद्देश्य

श्रोता—अपना लक्ष्य परमात्माकी प्राप्ति करना ही है—यह कैसे पता लगे ? क्योंकि धन भी प्रापणीय है, मान-बड़ाई भी प्रापणीय है, सुख-सुविधा भी प्रापणीय है, इस तरह कई चीजें प्राप्त करनेकी हैं। अतः परमात्माकी प्राप्ति ही हमारा उद्देश्य है—यह हमें कैसे मा'लूम हो ?

स्वामीजी—आपमेंसे कोई भी क्या ऐसा सुख चाहता है, जो पूरा न हो, अधूरा हो और मिटनेवाला हो ? क्या ऐसा जीवन कोई चाहता है, जो सदा न रहे, हम कभी रहें और कभी न रहें, मर जायँ ? क्या ऐसी जानकारी कोई चाहता है, जो अधूरी हो ? हम ऐसा सुख चाहते हैं, जो कभी मिटे नहीं। ऐसा जीवन चाहते हैं, जो सदा रहे। ऐसा ज्ञान चाहते हैं, जो सर्वोपरि हो, जिसमें किञ्चिन्मात्र भी कमी न रहे। यह चाहना (अभिलाषा) वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी ही है। परमात्मतत्त्वके सिवाय और कोई नित्य रहनेवाला, परिपूर्ण, सर्वोपरि तत्त्व नहीं है। उस परमात्मतत्त्वकी अभिलाषाको हम सांसारिक तुच्छ इच्छाओंसे दबाते रहते हैं और कभी सुखी तथा कभी दुःखी होते रहते हैं।

थोड़े सुखसे तो कुत्ता भी राजी हो जाता है, गधा भी राजी हो जाता है, सुख तो वह लेना चाहिये, जिसमें किसी तरहकी अपूर्णता न हो, जो पूर्ण हो। जिसमें कोई कमी न रहे, ऐसा सुख संसार नहीं दे सकता। अतः संसारका सुख हमारा ध्येय नहीं है, हमारा लक्ष्य नहीं है। आप विचार करें कि जो सदा रहे, अखण्ड रहे, जिसमें किञ्चित् भी कमी न आये, ऐसा सुख तो एक परमात्मामें ही है। संसारकी कितनी ही वस्तुएँ मिल जायँ, कितना ही धन, सम्पत्ति, राज्य, वैभव, मान, आदर, सत्कार आदि मिल जाय, पर उससे तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत 'और मिले', 'और मिले' ऐसी इच्छा रहती है।

हम जीना चाहते हैं—इसका अर्थ यह हुआ कि हम मर रहे हैं, नहीं तो जीनेकी चाहना क्यों होती है ? फिर भी जीनेकी इच्छा रहती है। संसारमें बहुत कुछ जाननेपर भी जाननेकी इच्छा रहती है। बहुत कुछ पानेपर भी पानेकी इच्छा रहती है। बहुत कुछ करनेपर भी

करनेकी इच्छा रहती है कि इतना तो कर लिया, इतना और करना है। यह जो जानने, पाने, करने आदिमें अधूरापन रहता है, कमी रहती है, यह कमी आदमीको खटकनी चाहिये। इस कमीकी पूर्ति संसार नहीं कर सकता। मात्र संसार मिल जाय तो भी यह कमी कभी पूरी नहीं हो सकती; क्योंकि संसार कभी टिकता नहीं, प्रतिक्षण बदलता रहता है। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति होनेपर क्या होगा, इसके लिये गीताने बताया—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

(६।२२)

अर्थात् जिस लाभकी प्राप्ति होनेके बाद 'उससे बढ़कर कोई लाभ होता है' यह उसके माननेमें ही नहीं आया, वह मान ही नहीं सकता, कोई उसको मना भी नहीं सकता, और जिसमें स्थित होनेपर वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता—**'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।'** जैसे दो पर्वत आपसमें टकरावें तो उनके बीचमें शरीरको रख दिया जाय, शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ तो ऐसे दुःखमें भी वह अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता। यह दुःख वहाँ पहुँचता ही नहीं। इस दुःखका संस्पर्श ही नहीं होता। सुख तो इतना होता है कि उससे बढ़कर कोई सुख है ही नहीं और दुःख वहाँ पहुँचता ही नहीं। ऐसा कौन नहीं चाहता, बताओ ? परन्तु अल्पमें संतोष कर लेते हैं, यह बड़ी गलती होती है।

साधकोंसे यह बड़ी भूल होती है कि वे साधन करते-करते बीचमें संतोष कर लेते हैं। एक मारवाड़ी कहावत है—***'आँधे कुत्ते खोलन ही खीर है'*** अर्थात् अन्धे कुत्तेको खोलन (अन्न आदि लगे हुए बरतनोंका धोया हुआ पानी) मिल जाय तो उसके लिये वही खीर है। ऐसे ही संसारमें थोड़ा धन मिल जाय, मान मिल जाय तो उसीमें राजी हो जाते हैं ! वास्तवमें मिल क्या गया ? जो मिला है, वह सब धोखा है। हमारेको तो सर्वोपरि तत्त्व चाहिये। हमारेको धन भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, पद भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, मान भी चाहिये

तो सर्वोपरि चाहिये, बड़ाई भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, जीवन भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये, ज्ञान भी चाहिये तो सर्वोपरि चाहिये—इस इच्छाको कोई मिटा नहीं सकता और परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके बिना इस इच्छाको कोई पूरी नहीं कर सकता, क्योंकि सर्वोपरि तत्त्व एक परमात्मा ही हैं। अर्जुन कहते हैं—**'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव'** (गीता ११।४३) आप 'अप्रतिमप्रभाव' हैं अर्थात् आपके प्रभावकी सीमा नहीं है। आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो हो ही कैसे सकता है ! ऐसे सर्वोपरि तत्त्वको प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

पहले जितने बड़े-बड़े ऋषि हुए, संत-महात्मा हुए, सनकादि एवं नारद आदि हुए, ब्रह्मा, शंकर आदि हुए, उनको जो तत्त्व मिला, वही तत्त्व आज कलियुगी जीवको भी मिल सकता है। संसारकी वस्तुएँ सबको नहीं मिल सकतीं, पर परमात्मतत्त्व सबको मिल सकता है। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है, जिसको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति न हो सकती हो। उस परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति ही मनुष्यजन्मका लक्ष्य है।

मेरा लक्ष्य परमात्मप्राप्ति है—इस बातको मनुष्य ही समझ सकता है, दूसरा कोई प्राणी नहीं। प्राणियोंमें गाय बड़ी पवित्र है, पर उसको समझा नहीं सकते। आप थोड़ा-सा विचार करें। आप इतनी जल्दी यहाँ सत्संगमें आ जाते हैं तो यहाँ धन मिलता है क्या ? भोग मिलता है क्या ? आदर मिलता है क्या ? यहाँ नीरोगता मिलती है क्या ? आपको कौन-सा लाभ मिलता है, बताओ ? क्यों आते हैं इतनी जल्दी उठ करके ?

श्रोता—आत्माको शान्ति मिलती है।

स्वामीजी—शान्ति पूरी चाहिये। यहाँ थोड़ी शान्ति मिली और जब यहाँसे चले गये तो फिर वैसी शान्ति नहीं रही—यह शान्ति किस कामकी ? हमें ऊँची-से-ऊँची शान्ति चाहिये, जो कभी मिटे नहीं। परन्तु भूल यह होती है कि हम तुच्छ शान्तिसे राजी हो जाते हैं।

एक आदमी ऊँटपर चढ़कर अपने गाँव जा रहा था। रात्रिके समय वह एक गाँवमें पहुँचा। वहाँ एक जगह ब्याह हो रहा था, ढोल-बाजे बज रहे थे। वह आदमी ब्राह्मण था। उसने वहाँ जाकर देखा तो पता लगा कि 'भूर' बँटनेवाली है। 'भूर' को संस्कृतमें भूयसी (विशेष) दक्षिणा कहते हैं, जो ब्याहके समय ब्राह्मणोंको दी जाती है। वह ब्राह्मण ऊँटको बाहर खड़ा करके 'भूर' लेनेके लिये भीतर चला गया। चोरोंने ऊँटको बाहर देखा तो वे उसको भगाकर ले गये। इधर 'भूर' बँटी तो सब ब्राह्मणोंको चार-चार आने मिले। चार आने लेकर वह ब्राह्मण बाहर आया तो देखा कि ऊँट नहीं है! इधर चार आने मिले और उधर चार-पाँच सौ रुपयोंका ऊँट गया! इस तरह संसारमें तो तुच्छ सुख मिला, थोड़ा धन मिल गया, थोड़ा मान मिल गया, थोड़ा आदर मिल गया, थोड़ा भोजन बढ़िया मिल गया, पर उधर ऊँट चला गया—परमात्माकी प्राप्ति चली गयी। यह दशा है—तुच्छ सुखमें महान् सुख जा रहा है। थोड़े-से आदर-सत्कारमें राजी हो जाते हैं। एक सन्तको किसीने कहा कि हम आपका आदर करते हैं, तो वे बोले—धूल आदर करते हो तुम। हमारा आदर भगवान् करते हैं, तुम क्या कर सकते हो ? सब मिलकर भी क्या आदर कर लोगे ? क्या ताकत है तुम्हारेमें जो आदर करोगे ? वास्तवमें सन्तोंका सम्मान भगवान् करते हैं। दूसरा बेचारा क्या जाने कि सम्मान क्या होता है ?

आप जो सर्वोपरि लाभ चाहते हैं, यही वास्तवमें परमात्मतत्त्वकी इच्छा है। इस इच्छाको चाहे जो कह दो, ज्ञानकी इच्छा कह दो, प्रेमकी इच्छा कह दो, सुखकी इच्छा कह दो, भगवद्दर्शनकी इच्छा कह दो, भगवत्प्राप्तिकी इच्छा कह दो, एक ही बात है। यही हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्यपर डटे रहें। अधूरेमें राजी न हों। अधूरेमें नहीं अटकोगे तो पूरा मिल जायगा। अधूरेको ले लोगे तो फिर वहीं अटक जाओगे।

यह मनुष्यशरीर उत्तम-से-उत्तम है, अतः इसका लक्ष्य भी उत्तम-से-उत्तम होना चाहिये, जिससे बढ़कर और कोई लक्ष्य न हो।

इससे सिद्ध होता है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मानव-जीवन मिला है।

श्रोता—संसारका सुख छोड़नेसे सर्वोपरि तत्त्व मिल ही जायगा, इसका क्या पता? इधरका तो छोड़ दें और उधरका मिले ही नहीं, तो फिर रीते रह जायँगे न?

स्वामीजी—अर्जुनने भी यही प्रश्न किया था कि अगर साधकको योगकी प्राप्ति न हो और वह बीचमें ही मर जाय तो उस बेचारेकी क्या गति होती है? क्या वह उभयभ्रष्ट हो जाता है? (गीता ६। ३७-३८)। संसारको तो छोड़ दिया और परमात्मा मिले नहीं, तो क्या बीचमें ही लटकता रहेगा? भगवान् बोले—नहीं पार्थ! उसका न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही पतन होता है, क्योंकि हे प्यारे! जो थोड़ा भी कल्याणकारी काम करता है, उसकी दुर्गति नहीं होती (गीता ६। ४०)। आपको पारमार्थिक मार्गपर ठीक चलनेवाला कोई साधक मिल जाय तो आपको खुदको मालूम होगा। उसकी मस्ती, उसका आनन्द आपको विलक्षण दीखेगा। साधना करनेवाले भी आगे बढ़ जाते हैं तो उनको एक विलक्षण आनन्द मिलता है, जिससे वे अपनी साधनाको छोड़ नहीं सकते। वह जो सर्वोपरि आनन्द है, वह हम सबको मिल सकता है, इसमें सन्देह नहीं है। सन्देह क्यों नहीं है? कि हम साधन करते हैं तो हमारेको विलक्षणता दीखती है। आप भी साधन करो, आपको भी दीखेगी। सत्संग करनेसे बहुत लाभ होता है। हमने तो सत्संगके समान कोई उपाय नहीं देखा है। साधन बहुत हैं और लोग साधन करते भी हैं, पर सत्संगके द्वारा जो लाभ होता है, वह वर्षोंतक साधन करनेसे भी नहीं होता।

अपनी जानकारीको महत्त्व दें

एक बहुत बढ़िया बात है। आप कृपा करके ध्यान दें। जिसको जो परिस्थिति मिली है, उसीको सर्वोपरि मानकर उसका सदुपयोग करे तो कल्याण हो जायगा। जितनी वस्तुएँ मिली हैं, उनसे ज्यादा वस्तुओंकी जरूरत नहीं है। आपके पास जितनी विद्या है, उससे ज्यादा जाननेकी जरूरत नहीं है। आपके पास जो बल है, उससे ज्यादा बलकी जरूरत नहीं है। आपको जो बल, बुद्धि, योग्यता, परिस्थिति आदि मिली है, उसीके सदुपयोगसे परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। यह एकदम सच्ची और सिद्धान्तकी बात है।

आपके पास जानकारीकी कमी नहीं है, प्रत्युत उस जानकारीका आप ठीक उपयोग नहीं करते, उसको महत्त्व नहीं देते—इस बातकी कमी है। अभी जो परिस्थिति हमारे सामने है, वह सदा ऐसी ही नहीं बनी रहेगी—यह ज्ञान आपमें कम नहीं है, पूरा-का-पूरा है। इस ज्ञानका आप सदुपयोग करें तो यह ज्ञान आपके उद्धारके लिये काफी है, किञ्चिन्मात्र भी कम नहीं है। इसका सदुपयोग यह है कि आप प्राप्त परिस्थितिमें फँसें नहीं, उसमें राजी-नाराज न हों।

श्रोता—यह ज्ञान तो हमें है, पर जैसा चाहते हैं, वैसा ज्ञान नहीं है।

स्वामीजी—आपको जिसका ज्ञान है, उसका सदुपयोग आप करते हैं क्या ? जिस वस्तुको आप नाशवान् समझते हो, उसको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है कि नहीं ?

श्रोता—होती है।

स्वामीजी—तो फिर नाशवान् कहाँ समझते हैं, अगर वास्तवमें आप नाशवान् समझते, तो फिर उसको पानेकी इच्छा आपमें नहीं होती। जो नाशवान् है, उसके मिलनेसे क्या लाभ होगा ? जैसे धनवान्‌के पास धन होता है, धन नहीं हो तो वह धनवान् नहीं कहलाता, ऐसे ही संसारके पास नाश-ही-नाश है। जो नाशवान् है, वह हमें निहाल कैसे करेगा ?

आप स्वयं नाशवान् नहीं हैं, प्रत्युत शरीर नाशवान् है। आपको जो वस्तु मिली हुई है, वह नष्ट होनेवाली है, पर आप स्वयं नष्ट होनेवाले नहीं हो। वस्तु पहले भी नहीं थी और बादमें भी नहीं रहेगी तथा वर्तमानमें भी प्रतिक्षण नाशकी तरफ जा रही है। परन्तु आप पहले भी थे और आगे भी रहोगे। आपकी सत्ता निरन्तर रहती है। हमारे पास प्रश्न आया था कि हम भविष्यमें रहेंगे—इसका ज्ञान वर्तमानमें कैसे हो ? इसका उत्तर है कि आप बुरा काम करते हुए डरते हैं और अच्छा काम करते हुए राजी होते हैं; क्योंकि आपका यह भाव रहता है कि बुरा काम करनेसे हम आगे दुःख पायेंगे और अच्छा काम करनेसे हम आगे सुख पायेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि आपने भविष्यमें अपनी सत्ता मान रखी है। अगर भविष्यमें हम अपनी सत्ता न मानें तो फिर स्वर्गमें कौन जायगा ? नरकोंमें कौन जायगा ? पुनर्जन्म किसका होगा ? मुक्ति किसकी होगी ? कल्याण होनेपर आनन्द आपको होगा कि दुनियाको होगा ? तात्पर्य है कि आप तो रहेंगे और शरीर आदि पदार्थ नहीं रहेंगे।

आप विचार करें कि नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीको सुख कैसे मिल सकता है ? नाशवान् कहनेका अर्थ है कि उसके पास नाश-ही-नाश है, नाशके सिवाय कुछ नहीं है।

अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर तू न तजै अबही ते।

जो चीज नष्ट होनेवाली है, उसका उपयोग करो, पर उसका भरोसा मत करो, उसको अपना आधार मत बनाओ कि यह हमें निहाल करेगी। थोड़ा ध्यान दें, जो चीज अभी आपके पास नहीं है, उसके मिलनेसे आप निहाल कैसे हो जायँगे ? जो चीज अभी नहीं है, वह बादमें भी नहीं रहेगी, बिछुड़ जायगी, अतः वह आपको सुखी कैसे करेगी ? वह मिलेगी कि नहीं मिलेगी—इसका पता नहीं है, और मिल भी जायगी तो रहेगी नहीं, क्योंकि जो नाशवान् है, उसका नाश होगा ही।

शरीर आदि नाशवान् हैं—ऐसा आप जानते तो हैं, पर मानते नहीं अर्थात् जाने हुएको महत्त्व नहीं देते। अगर आप अपनी जानकारीको महत्त्व देते तो आप नाशवान् वस्तुओंपर भरोसा नहीं करते, उनकी आशा नहीं करते, उनके मिलनेपर राजी नहीं होते, उनके न मिलनेपर दुःखी नहीं होते, उनके बने रहनेकी इच्छा नहीं करते, उनके नष्ट होनेकी चिन्ता नहीं करते। हम जैसी परिस्थिति चाहते हैं, वैसी परिस्थिति न मिलनेपर दुःख होता है, तो यह दुःख केवल मूर्खताका है। मूर्खताके सिवाय और कुछ नहीं है इसमें। जो वस्तु, परिस्थिति रहनेवाली नहीं है, उसको रखना चाहते हैं और उसके नष्ट होनेपर दुःखी होते हैं—यह मूर्खता नहीं तो और क्या है ? हमारेपर कोई आफत आ जाय, दुःख आ जाय तो सोचते हैं कि यह मिटे कैसे ? पर वास्तवमें देखा जाय तो वह मिट ही रहा है। चाहे अनुकूलता हो, चाहे प्रतिकूलता हो, वह रहनेवाली है ही नहीं। मिली हुई चीज बिछुड़नेवाली होती है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(वाल्मीकि० २। १०५। १६)

'समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगोंका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है।'

जिसका वियोग हो जायगा, उसके संयोगसे सुख कैसे लिया जाय ? उसके वियोगसे हम दुःखी क्यों हों ? न सुख रहनेवाला है और न दुःख रहनेवाला है। आप रहनेवाले हैं। रहनेवाला आने-जानेवालेसे सुखी-दुःखी होता है तो उसकी मूर्खता ही है।

जो कभी नष्ट नहीं होता और जो अभी मौजूद है, उस परमात्माकी प्राप्तिसे ही सदा रहनेवाला सुख मिलेगा। उस परमात्माके सिवाय मानमें, सम्मानमें, बड़ाईमें, आराममें, रुपये-पैसेमें, कुटुम्बमें, धनमें कहीं भी आप सन्तोष करेंगे तो आपके साथ विश्वासघात होगा।

मैं वह बात कहता हूँ, जो आपके अनुभवमें है। चाहे कोई धुरंधर विद्वान् हो, चाहे एक अक्षर भी पढ़ा हुआ न हो, उसके भी अनुभवमें जो बात है, वह बात मैं कहता हूँ। मैं किसी वर्णकी, किसी आश्रमकी, किसी जातिकी, किसी सम्प्रदायकी बात नहीं कहता हूँ, प्रत्युत मनुष्यमात्रके अनुभवकी बात कहता हूँ। जिसका संयोग होता है, उसका वियोग होगा ही—यह बात किसकी है, बताओ ? यह बात हिन्दुओंकी है या मुसलमानोंकी है या ईसाईयोंकी है ? बालकोंकी है या जवानोंकी है या बूढ़ोंकी है ? स्त्रियोंकी है या पुरुषोंकी है ? साधुओंकी है या गृहस्थोंकी है ? किसकी है यह ? यह तो सबकी बात है। इस बातको आप महत्त्व दें तो निहाल हो जायँ ! महत्त्व देना क्या कि आने-जानेवाली वस्तु, परिस्थितिसे आप सुखी-दुःखी न हों।

जिसका वियोग हो जायगा, उसका सहारा आप क्यों लेते हैं ? आपने पहले उसका सहारा लिया और उसका वियोग होनेसे आपको दुःख भी हुआ, फिर भी आप उसीका सहारा लेते हैं और बार-बार दुःख पाते हैं ! अगर आप उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुसे राजी-नाराज न हों तो आपको अनुत्पन्न परमात्मतत्त्व मिल जायगा। जो उत्पत्ति-विनाशशील है, जिसके आदि और अन्तको आप जानते हैं, उसकी इच्छा करना तथा उसके मिलनेसे राजी होना ही उलझन है। इसके सिवाय आपकी उलझन कोई है ही नहीं। इस उलझनको आप मिटा दो तो आपको परमात्मतत्त्व मिल जायगा। उस परमात्मतत्त्वका कभी नाश (वियोग) नहीं होता। वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, क्योंकि वह सत् है। सत्का कभी अभाव नहीं होता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)।

आपका अपमान होता है तो आप बड़े दुःखी हो जाते हैं, तो अपमान टिकनेवाला है क्या ? आपका सम्मान होता है तो आप राजी हो जाते हैं, तो सम्मान टिकनेवाला है क्या ? आप तो रहनेवाले हैं। रहनेवाला आने-जानेवालेसे सुखी-दुःखी हो जाता है—यह बड़े

आश्चर्यकी बात है। भगवान्‌ने गीतामें सबसे पहले यह उपदेश दिया—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ (गीता २। १२)

मैं, तू और ये राजा लोग पहले नहीं थे—यह बात भी नहीं है तथा आगे नहीं रहेंगे—यह बात भी नहीं है। ऐसा कहनेका तात्पर्य क्या हुआ? कि अभी जो यह परिस्थिति है, यह नहीं रहेगी। जो वस्तु, परिस्थिति नहीं रहेगी, वह आ गयी तो क्या हो गया? और वह चली गयी तो क्या हो गया? नाशवान्‌के मिलनेसे क्या राजी होते हो? सम्मान मिल गया तो क्या हो गया? सम्मानसे आपको क्या मिला? केवल धोखा मिला। धोखेके सिवाय कुछ नहीं मिला। आप जान-जानकर धोखा क्यों खाते हो? आपको आजसे ही होश आनी चाहिये कि अब हम सम्मानमें राजी नहीं होंगे और अपमानमें नाराज नहीं होंगे। कारण कि आदर भी ठहरनेवाला नहीं है और निरादर भी ठहरनेवाला नहीं है। सुख भी ठहरनेवाला नहीं है और दुःख भी ठहरनेवाला नहीं है। यह मिला तो क्या फर्क पड़ा और नहीं मिला तो क्या फर्क पड़ा? जो नाशवान् ही है, वह मिला, तो भी नहीं मिला और नहीं मिला, तो भी नहीं मिला। वास्तवमें नाशवान्‌का सदा ही वियोग है, संयोग है ही नहीं। संयोग केवल आपका माना हुआ है। जिसका सदा ही वियोग है, जो आपके साथ रहनेवाला है ही नहीं, उसमें राजी-नाराज क्या हों? यह बात सच्ची है कि नहीं?

श्रोता—बिलकुल सच्ची है।

स्वामीजी—बिलकुल सच्ची है तो आज ही, अभी-अभी मान लो, देरीका काम नहीं है। इसके लिये मिनट-दो-मिनटका भी भविष्य नहीं है। आने-जानेकी वस्तुओंसे राजी-नाराज नहीं होओगे तो अविनाशी वस्तु मिल जायगी। न मिले तो मेरा कान पकड़ लेना।

★

सच्चा आश्रय

किसी-न-किसीका आश्रय लेना मनुष्यमात्रका स्वभाव है। ऐसे तो जीवमात्र किसी-न-किसीका आश्रय लेना चाहता है, किसी-न-किसीको आधार बनाना चाहता है। ऐसा स्वभाव क्यों है ? क्योंकि यह परमात्माका अंश है। अगर यह परमात्माका ही आश्रय ले तो फिर इसको दूसरा आश्रय लेनेकी जरूरत नहीं पड़ेगी। परन्तु जबतक यह परमात्माका आश्रय नहीं लेता, तबतक यह अनेक आश्रय लेता रहता है। लेना तो चाहिये भगवान्‌का आश्रय, पर उस जगह दूसरी चीजका आश्रय ले लेता है। धनका आश्रय ले लेता है, परिवारका आश्रय ले लेता है, विद्याका आश्रय ले लेता है, योग्यताका आश्रय ले लेता है, बलका आश्रय ले लेता है, पर यह आश्रय टिकता नहीं।

आश्रय परमात्माका ही लेना चाहिये—यह बात समझनेमें ठीक दीखती है और मानते भी हैं, पर दूसरा आश्रय छोड़ते नहीं। यद्यपि दूसरा आश्रय छोड़नेमें आप पराधीन नहीं हैं, स्वाधीन हैं, परन्तु दूसरेका विशेष आश्रय लेनेसे, उसका सुख पाते रहनेसे अपनेमें एक ऐसा वहम हो गया है कि इनका आश्रय छोड़नेपर हम कैसे रहेंगे, कैसे जीयेंगे ? हमारा निर्वाह कैसे होगा ? ऐसा भाव होनेसे अपनेमें यह कायरता आ गयी कि इनका आश्रय हम छोड़ नहीं सकते।

जब गाढ़ी नींद आती है, उस समय किसका आश्रय रहता है ? किसीका आश्रय नहीं रहता, परमात्माका भी आश्रय नहीं रहता। उस अवस्थामें एक बेहोशी रहती है। बेहोशीमें संसारका आश्रय तो छूटता है, पर मूढ़ता (अज्ञान) का आश्रय रहता है। यह जो वहम है कि संसारके आश्रयके बिना हम जी नहीं सकेंगे, तो फिर सुषुप्तिमें आप कैसे जीते हैं ? सुषुप्तिमें संसारका आश्रय न रहनेपर भी आप रहते हैं। कृपा करके एक और बातकी तरफ आप ध्यान दें। संसारका आश्रय लेनेसे इतना सुख नहीं मिलता, जितना सुख संसारका आश्रय

छोड़नेसे, नींदमें मिलता है। संसारका आश्रय छोड़नेसे जो सुख मिलता है, जो ताजगी मिलती है, जो काम करनेकी शक्तिका संचय होता है, वह संसारका आश्रय लेते हुए नहीं होता। शक्तिका संचय दूर रहा, उलटे शक्ति खर्च होती है। धन, परिवार, बुद्धि, योग्यता आदि किसीका भी आश्रय लेते रहनेसे आप बेचैन हो जाते हैं, थक जाते हैं, आपकी शक्ति क्षीण हो जाती है, फिर आप सबको छोड़कर सो जाते हैं। सोते-सोते आपमें पुनः शक्ति आ जाती है। इस प्रकार संसारका आश्रय छूटनेसे आपके पास बहुत विलक्षण ताकत आयेगी; और परमात्माका आश्रय लेनेसे ताकतका कोई पारावार नहीं रहेगा, इतनी असीम, अपार ताकत आयेगी कि फिर भय, चिन्ता आदि रहेंगे ही नहीं। उसीके लिये कहा है—**'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'** (गीता ६। २२)। उससे बढ़कर कोई लाभ हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं—परन्तु वह नाशवान्‌का आश्रय छोड़नेसे ही मिलेगा।

आपसे गलती यह होती है कि जिसको आप नाशवान् मानते हैं, जानते हैं, उसका आश्रय नहीं छोड़ते। जप-ध्यान करते हैं, कीर्तन करते हैं, चिन्तन करते हैं, पर साथ-साथ नाशवान्‌का आश्रय भी रखते हैं। नाशवान् संसारका आश्रय सर्वथा छोड़े बिना परमात्माका आश्रय पूरा नहीं लिया जाता। पूरा आश्रय लिये बिना पूरी शक्ति नहीं मिलती। परमात्माकी तरफसे कोई कमी नहीं है। आप परमात्माका जितना आश्रय लोगे, उतना आपको आश्वासन मिलेगा, शक्ति मिलेगी, लाभ होगा। परन्तु संसारका आश्रय सर्वथा छोड़कर परमात्माके आश्रित हो जाओगे तो अपार बल मिलेगा।

वे परमात्मा कहाँ हैं—इसमें एक बात बतायें कि वे सबके हृदयमें हैं—**'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'** (गीता १५। १५); **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (गीता १८। ६१)। वे सम्पूर्ण

जीवोंके भीतर हैं; परन्तु यह बाहरकी तरफ ही देखता है, भीतरकी तरफ देखता ही नहीं। आप अपनेको मानते हो कि मैं हूँ, उस मैं-पनका आश्रय आत्मा है, और आत्माका भी आश्रय परमात्मा है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। आपका आत्मा उस परमात्माका अंश है। आप एक क्षेत्रमें हैं और आपका अंशी परमात्मा सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें हैं—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत**' (गीता १३।२)। गोपिकाओंने कहा है—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।

—'आप केवल यशोदानन्द ही नहीं हैं, प्रत्युत जितने भी शरीरधारी हैं, चाहे वे स्थावर हों, जंगम हों, देवता हों, राक्षस हों, भूत-प्रेत-पिशाच हों, नरकोंमें रहनेवाले हों, भजन-ध्यान करनेवाले हों, तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त हों, भगवत्प्रेमी हों, उन सबकी अन्तरात्माके द्रष्टा आप हैं। पर ऐसा होते हुए आप यहाँ कैसे आ गये?'

विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।४)

—'ब्रह्माजीने प्रार्थना की तो आप प्रकट हुए। किस लिये प्रार्थना की? '**विश्वगुप्तये**' अर्थात् संसारकी रक्षा करनेके लिये, क्योंकि संसारकी रक्षा आप ही कर सकते हैं, और किसीमें ताकत नहीं है करनेकी। आप इन यादवोंके कुलमें प्रकट हुए हैं—'**उदेयिवान्**', पैदा नहीं हुए हैं।' जैसे सूर्यका उदय होता है तो ऐसा कोई नहीं कहता कि सूर्य पैदा हो गया; क्योंकि उदय होनेसे पहले भी सूर्य है। जब वह हमारे सामने आ जाता है, तब उसका उदय होना कहते हैं। ऐसे ही वे परमात्मा प्रकट होते हैं, हमारे शरीरोंकी तरह जन्म नहीं लेते।

मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर, व्यक्ति, वस्तुएँ, पदार्थ, रुपये-पैसे आदि कोई भी आपका नहीं है, आपके साथ रहता नहीं है, प्रतिक्षण आपसे अलग हो रहा है, फिर भी आप इनका आश्रय लेते हैं। ये

मन, बुद्धि आदिको आपके आश्रित रहते हैं, पर अपने आश्रित रहनेवाले वस्तुओंका आप आश्रय लेते हैं, अपने उद्योगसे पैदा होनेवाले धनका आश्रय लेते हैं—यह गलती करते हैं। इनका आश्रय न लेकर एक भगवान्‌का आश्रय लें—**'मामेकं शरणं व्रज'** (गीता १८। ६६)। **'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥'** (गीता १८। ६२)—जो सबके हृदयमें विराजमान है, उस ईश्वरकी ही सर्वभावसे शरण ले लो। उसकी कृपासे परमशान्ति (संसारसे सर्वथा उपरति) और अविनाशी परमपदकी प्राप्ति हो जायगी। भगवान्‌का आश्रय लेनेमें हम सब-के-सब स्वतन्त्र हैं, कोई भी पराधीन नहीं है! उनका आश्रय लेनेमें कोई अयोग्य भी नहीं है।

आप इसी क्षण परमात्माका आश्रय ले सकते हैं; क्योंकि वह आपके पास है और आप उसके पास हैं। वह आपसे अलग नहीं हो सकता और आप उससे अलग नहीं हो सकते। अगर वह आपसे अलग हो जाय तो ईश्वर दो हो जायँगे, एक वह और एक आप। उसकी जो अखण्डता है, सर्वोपरि भाव है, व्यापकता है, वह खण्डित हो जायगी। आपसे अलग होनेपर उसकी महत्ता रहेगी ही नहीं। अतः वह आपसे अलग हो ही नहीं सकता। आप भी उससे अलग नहीं हो सकते। हाँ, आप अपनेको उससे अलग मान सकते हो, पर अलग हो नहीं सकते। ऐसे ही आप अपनेको संसारके आश्रित मान सकते हो, पर आश्रित हो नहीं सकते। आपने शरीरका आश्रय लिया, धनका आश्रय लिया, कुटुम्बका आश्रय लिया, बल-बुद्धिका आश्रय लिया, पर क्या आप इनके आश्रित रह सकते हैं? इनके आश्रित कोई रह सकता ही नहीं। फिर भी आप इनका आश्रय मान लेते हैं, यह गलती करते हैं, क्योंकि यह निभनेवाला नहीं है। इनका साथ रहनेवाला नहीं है, सब छूटनेवाला है। अतः इनसे विमुख होकर एक भगवान्‌का ही

आश्रय लें, औरका आश्रय मत लें। धनका सदुपयोग करें, सब काम करें, पर आश्रय एक भगवान्‌का ही रखें।

सन्तोंने कहा है—

पतिव्रता रहे पतिके पासा,
यों साहिबके ढिग रहे दासा।

जैसे पतिव्रता पतिके आश्रित रहती है, ऐसे ही भक्त भगवान्‌के आश्रित रहते हैं। जगज्जननी जानकीजी सास-ससुरको माता-पितासे भी अधिक आदर देती थीं; परन्तु जब भगवान् वनवासके लिये पधारे, तब जानकीजीने उनको भी छोड़ दिया। दशरथजीने यहाँतक कह दिया कि अगर जनकराजदुलारी यहाँ रह जाय तो मेरे प्राण रह सकते हैं, फिर भी वे नहीं रहीं। वे कहती हैं कि मैं रह सकती ही नहीं। चाँदनी चन्द्रमाको छोड़कर कैसे रह जाय? सूर्यकी प्रभा सूर्यको छोड़कर कैसे रह जाय? शरीरकी छाया शरीरको छोड़कर कैसे रह जाय? ऐसे ही कोई भी जीव परमात्मासे अलग रह सकता ही नहीं, परन्तु यह परमात्माका आश्रय न लेकर अलग होनेवाले (संसार) का आश्रय लेता है, इसीसे यह दुःख पा रहा है। अगर यह अलग होनेवालेका आश्रय न ले और सदा साथ रहनेवालेका आश्रय ले ले तो निहाल हो जाय। आप अभी यह निश्चय कर लें कि हम संसारका आश्रय नहीं लेंगे। धन कमायेंगे, रखेंगे, पर उसका आश्रय नहीं लेंगे। संसारका काम करेंगे, पर संसारका आश्रय नहीं लेंगे। इतने दिन संसारसे लिया है, अब उसका कर्जा चुकानेके लिये काम करना है, पर आश्रय नहीं लेना है। संसार आश्रय लेनेके योग्य है ही नहीं, क्योंकि यह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता है। यह इतनी तेजीसे बदलता है कि इसको दुबारा नहीं देख सकते। केवल बदलनेके पुञ्जका नाम संसार है। जैसे भगवान् कृपाकी मूर्ति हैं *,

* 'प्रभु-मूरति कृपामई है' (विनयपत्रिका १७०।७)।

ऐसे ही यह संसार बदलनेकी मूर्ति है। बदलनेके सिवाय इसमें और कुछ भी नहीं है। ऐसे संसारका आश्रय आपने मान रखा है। अब इससे विमुख होकर केवल भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ले लें और अभी ले लें, अभी।

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई', *'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की ॥'*—दूसरेका आश्रय न लें। सर्वभावसे भगवान्‌के शरण हो जायँ— **'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन'** (गीता १८।६२), **'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन'** (गीता १५।१९); ***सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ'*** (मानस ७।८७क)। वास्तवमें भगवान्‌के साथ आपका स्वतःसिद्ध घनिष्ठ सम्बन्ध है। बदलनेवालेके साथ सम्बन्ध न जोड़ें—इतनी ही बात है।

—★—

सावधान रहो !

आप अभी सावधान हो जायँ कि कोई भी समय निरर्थक न जाय। व्यर्थकी बातें करना, आलस्य-प्रमाद करना, हँसी-दिल्लगी करना, बीड़ी-सिगरेट पीना आदि निरर्थक कामोंमें झूठ-कपट, पापके कामोंमें अगर समय लगता है तो यह बड़े भारी दुःखकी बात है ! इसका परिणाम बड़ा भयंकर होगा। यह समय परमात्माकी प्राप्तिके लिये मिला है। इसमें अपने स्वार्थ और अभिमानको लेकर किसीको दुःख, कष्ट देना भविष्यमें अपने लिये बड़ा भारी दुःख तैयार करना है। इसलिये सावधान रहें। एक-एक क्षण उत्तम-से-उत्तम काममें लगायें।

रुपयोंको तो आप तिजोरीमें बंद करके रख सकते हैं, पर समयको बंद करके नहीं रख सकते। समयको सावधानीसे अच्छे-से-अच्छे काममें लगाओ तो ठीक है, नहीं तो यह खर्च हो जायगा। यह बहुत बड़ी पूँजी है। धन-जैसी पूँजी नहीं है, धनसे बहुत ऊँची है। पासमें लाखों-करोड़ों रुपये रहते हुए भी मर जाओगे, पर समय रहते एक मिनट भी पहले नहीं मरोगे। जीना समयके अधीन है। समय खर्च होनेपर जी सकोगे नहीं। रुपये आपको जिला नहीं सकते। आपको समय जिलाता है। समय ही आपके जीवनका आधार है। रुपये तो तभी खर्च होते हैं, जब आप खर्च करते हैं, परन्तु समय तो अपने-आप खर्च हो रहा है, बैठे हैं तो भी खर्च हो रहा है, काम करते हैं तो भी खर्च हो रहा है, भजन करते हैं तो भी खर्च हो रहा है। यह खर्चा तो निरन्तर ही हो रहा है। मौत निरन्तर नजदीक आ रही है, जिसमें एक क्षणका भी अन्तर नहीं पड़ता। चाहे काम-धंधा कर लो, चाहे भजन कर लो, चाहे समाधि लगा लो, समय तो दनादन जा रहा है। समय समाप्त होते ही उसी क्षण मरना पड़ेगा। फिर ऐसा कोई बल

नहीं है, जिससे हम जी सकें। ऐसा अपने जीवनका खास आधार जा रहा है। उसे उत्तम-से-उत्तम काममें लगाओ। इसके लिये सावधानीके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। अतः हरदम सावधान रहो। सन्तोंने कहा है—

दिलमें जाग्रत् रहियै बंदा।
हेत प्रीत हरिजन सुं करियै, परहरियै दुखद्वंद्वा॥

हम क्या कर रहे हैं? इसका नतीजा किसको भोगना पड़ेगा? इसपर गम्भीरतासे विचार करें। ऐसा विचार, ऐसी सावधानी मनुष्य ही रख सकता है। पशु-पक्षियोंमें, वृक्षोंमें इसका ज्ञान नहीं है। भोगयोनि देवताओंमें भी इसका ज्ञान नहीं है। अपने स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरोंका हित करनेकी योग्यता मनुष्यमें ही है। अगर वह दूसरोंका हित, दूसरोंकी सेवा नहीं करता तो यह बड़ी भारी गलती है। भगवान्‌को याद करनेका और दूसरोंकी सेवा करनेका अवसर दूसरी जगह नहीं मिलेगा। यह अवसर चुकें नहीं। अगर आप यह काम कर लेते हैं तो बहुत बड़ा काम कर लिया। समय सार्थक बनानेवालेको पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता। समय बरबाद करनेवालेको पश्चात्ताप करना पड़ता है—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(मानस ७।४३)

जो अपना समय व्यर्थ खो देता है, वह बहुत बड़ा नुकसान करता है। जो समय भगवान्‌के चिन्तनके लिये है, वह भोगोंके चिन्तनमें लगता है, जो समय दूसरोंका हित, उपकार करनेके लिये है, वह दूसरोंके अहित, अपकारमें लगता है—वह बड़े भारी नुकसानकी बात है। इस नुकसानसे बचो और सावधान रहो। पशुको भी अगर सावधान किया जाय तो वह सावधान हो जाता है। ऊँटको

'सावधान ! सावधान !' कह दो तो वह अखड़ता नहीं, स्खलित नहीं होता। गधेको 'बचो ! बचो !' कह देनेसे वह ठीक चलने लग जाता है। मनुष्यको तो आप-से-आप सावधान होना चाहिये—

उदीरितोऽर्थ पशुनापि गृह्यते हयाश्च नागाश्च वहन्ति चोदिताः।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः॥

'कही हुई बातका अर्थ तो पशु भी समझ लेते हैं, जैसे, प्रेरणा करनेपर घोड़े और हाथी सवारको लेकर चलते हैं। परन्तु बुद्धिमान् लोग बिना कही हुई बातको भी संकेतमात्रसे समझ लेते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि दूसरोंके भीतरी भावोंको जाननेवाली होती है।'

मनुष्यमें स्वयं सावधान रहनेकी योग्यता है। परन्तु इस योग्यताको वह काममें नहीं ले रहा है, पशु-पक्षियोंकी तरह ही समय बरबाद कर रहा है ! इधर तो वह टी॰ वी॰ देख रहा है, तमाशा देख रहा है, पर उधर यमराज आ रहे हैं, मौत आ रही है ! अभी जो समय मिला है, वह बरबाद करनेके लिये नहीं मिला है। अच्छे-से-अच्छे काममें लगानेके लिये मिला है। दूसरोंकी सेवा करना और भगवान्‌को याद करना—ये दो काम खास करनेके हैं। पशुओंसे, वृक्षोंसे आप सेवा ले सकते हो, पर वे स्वयं सेवा नहीं कर सकते। दूसरोंकी सेवा करनेकी बुद्धि और योग्यता मनुष्यके सिवाय और किसीमें नहीं है। ऐसे ही भगवान्‌को याद करना, भगवान्‌से प्रेम करना, मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं—ऐसा भाव रखना भी मनुष्यशरीरमें ही सम्भव है। इसलिये मनुष्यको हरदम सावधान, सावचेत रहना चाहिये। अपने घरोंमें बड़े-बड़े अक्षरोंमें 'सावधान' लिख देना चाहिये, जिससे उसपर दृष्टि पड़ती रहे और सावधानी रहे।

समय बड़ी तेजीसे खर्च हो रहा है और खर्च होनेपर उसी क्षण मरना पड़ेगा। मरते क्यों हैं ? कि जीनेका समय बाकी नहीं रहा।

आप कितने ही बुद्धिमान् हों, आपमें कितना ही बल हो, आपके पास कितने ही रुपये हों, आपका कितना ही बड़ा राज्य हो, आपके पास सब कुछ हो, पर मरनेके समय वह कुछ कामका नहीं है—

अरब खरब लौं द्रव्य है, उदय अस्त लौं राज।
तुलसी जो निज मरन है, तो आवहि किहि काज॥

इसलिये सावधान रहो। बहुत ही सीधा-सरल उपाय है कि 'राम-राम-राम' करना शुरू कर दो और भीतर बार-बार भगवान्से कहो कि 'हे नाथ! ऐसी कृपा करो कि मैं आपको भूलूँ नहीं।' भगवान्की स्मृति सम्पूर्ण विपत्तियोंका नाश करनेवाली है—**'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्'** (श्रीमद्भा० ८।१०।५५)। बड़ी सीधी-सरल और बहुत महत्ताकी बात है। केवल सावधानीकी आवश्यकता है कि समय खाली न चला जाय। एक नामका उच्चारण कर सकें, उतना समय भी अगर खाली चला गया तो बहुत बड़ी हानि है।

श्रोता—राम-नाम भीतरसे जपना चाहिये या जबानसे?

स्वामीजी—चाहे भीतरसे जपो, चाहे जबानसे जपो, जिस किसी तरहसे जपो, नाम-जप छूटना नहीं चाहिये। **'तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्** (श्रीमद्भा० ७।१।३१)—किसी तरहसे आपका मन, आपकी वाणी भगवान्में लग जाय। इसके लिये कोई समय, मुहूर्त नहीं देखना है। मनुष्य-शरीर मिल गया तो मुहूर्त मिल गया।

सोई तित्थ सुतित्थ है, सोई बार सुबार।
भद्रा भागी मानवा, सुमरचा सिरजणहार॥

श्रोता—भगवान्का नाम लेना और भगवान्का कार्य करना—दोनोंमें ज्यादा आवश्यक कौन-सा है?

स्वामीजी—यह प्रश्न ऐसा ही है कि जैसे कोई पूछे—रोटी खायें या पानी पीयें, क्या करें बताओ? दोनों ही आवश्यक हैं। नाम

भी लो और काम-धंधा भी करो। नाम तो हरदम लिया जा सकता है, पर कार्य हरदम नहीं किया जा सकता। अतः नाम हरदम लो और मौका पड़नेपर कार्य भी करो—**'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'** (गीता ८।७)। जो शास्त्रविहित काम सामने आ जाय, उसे भगवान्‌का समझकर करो और नाम निरन्तर लेते रहो, नाम छूटे नहीं।

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥

(मानस १।२२।४)

—चारों ही युगोंमें और चारों ही वेदोंमें नामका प्रभाव है, पर कलियुगमें इसका विशेष प्रभाव है। इसके समान दूसरा कोई उपाय है नहीं। सभी सन्तोंने एक स्वरसे नामकी महिमा गायी है। नामके विषयमें भेद हो सकता है। कोई 'ॐ' कहेगा, कोई 'राम' कहेगा, कोई 'हरे राम०' बतायेगा, कोई 'ॐ नमो नारायणाय' बतायेगा—इस प्रकार नामोंमें भेद हो सकता है, पर नाम-जपमें सब-के-सब एक हैं।

श्रोता—राम-राम करनेसे प्रारब्ध कट जायगा क्या ?

स्वामीजी—प्रारब्ध तो भोगनेसे कट ही जायगा। प्रारब्धकी क्या चिन्ता करें ? यह तो भोगा और कटा, आप-से-आप ही कट जायगा। प्रारब्ध तो हरदम स्वतः—स्वाभाविक ही कटता रहता है।

श्रोता—ऊपरसे राम-राम करते हैं, मन तो लगता नहीं, फिर क्या फायदा ?

स्वामीजी—ऊपरसे करनेपर भी फायदा होता है। कोई भी क्रिया निरर्थक नहीं जाती। कोई भी शब्द उच्चारण करो, वह निरर्थक नहीं जाता। फिर भगवान्‌का नाम तो भगवान्‌का ही है, वह निरर्थक नहीं जाता—इतनी ही बात नहीं है, प्रत्युत नामका उच्चारण करनेसे त्रिलोकीका बड़ा भारी उपकार होता है। कारण कि शब्द यहीं नहीं रहता, प्रत्युत व्यापक हो जाता है, सब जगह चला जाता है। व्यापक होनेके कारण ही शब्द रेडियोके द्वारा प्रकट हो जाता है। अगर कोई

खराब शब्द बोलता है तो वह त्रिलोकीका बड़ा भारी अपराध करता है। अगर कोई मनसे किसीका अनिष्ट-चिन्तन करता है तो वह त्रिलोकीका अनिष्ट करता है। जैसे पानीमें एक छोटा-सा कंकड़ डालो तो उसकी भी तरंगें उठती हैं, पर सूक्ष्म होनेके कारण वे दीखती नहीं। ऐसे छोटा-सा शब्द उच्चारण किया जाय तो वह भी त्रिलोकीमें फैल जाता है। शब्दकी शक्ति अचिन्त्य है—'**शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात्।**' अतः बिना मन लगे भी कोई भगवान्‌का नाम लेगा तो उसको जरूर लाभ होगा। मन लगाकर नाम लिया जाय, तब तो कहना ही क्या है!

चुप-साधन

मैं एक साधन बताया करता हूँ—चुप रहना। भीतरसे ऐसा विचार कर लिया जाय कि मेरेको कुछ करना है ही नहीं। न स्वार्थ न परमार्थ, न लौकिक न पारलौकिक, कुछ करना है ही नहीं। ऐसा विचार करके बैठ जायँ। बैठनेका बढ़िया समय है—प्रातः नींदसे उठनेके बाद। नींदसे उठते ही भगवान्‌को नमस्कार करके बैठ जायँ। जैसे गाढ़ी नींदमें किञ्चिन्मात्र भी कुछ करनेका संकल्प नहीं था, ऐसे ही जाग्रत्-अवस्थामें किञ्चिन्मात्र भी कुछ करनेका संकल्प न रहे। यह जाग्रत्‌में सुषुप्ति है। चिन्तन, जप, ध्यान आदि कुछ भी नहीं करना है। परन्तु 'चिन्तन आदि नहीं करना है'—यह संकल्प भी नहीं रखना है, क्योंकि न करनेका संकल्प रखना भी 'करना' है।

अब किञ्चिन्मात्र भी कुछ नहीं करना है—ऐसा विचार करके चुप हो जायँ। यदि मन न माने तो 'सब जगह एक परमात्मा परिपूर्ण हैं'—ऐसा मानकर चुप हो जायँ। सगुणकी उपासना करते हों तो 'मैं प्रभुके चरणोंमें पड़ा हूँ'—ऐसा मानकर चुप हो जायँ। परन्तु यह दो नम्बरकी बात है। एक नम्बरकी बात तो यह है कि कुछ करना ही नहीं है। इस प्रकार चुप होनेपर भीतरमें कोई संकल्प-विकल्प हो, कोई बात याद आये तो उसकी उपेक्षा करें, विरोध न करें। उसमें न राजी हों और न नाराज हों। शास्त्रविहित अच्छे संकल्प आयें तो उसमें राजी न हों और शास्त्रनिषिद्ध बुरे संकल्प आयें तो उसमें नाराज न हों।

आप जो यह कहते हैं कि मन बड़ा खराब है, वास्तवमें मन अच्छा और खराब होता ही नहीं। अच्छा और खराब स्वयं ही होता है। स्वयं अच्छा होता है तो संकल्प अच्छे होते हैं और स्वयं खराब होता है तो संकल्प खराब होते हैं। अच्छा और खराब—ये दोनों ही प्रकृतिके सम्बन्धसे होते हैं। प्रकृतिके सम्बन्धके बिना न अच्छा होता है और न बुरा होता है। जैसे सुख और दुःख दो चीज हैं, पर आनन्दमें

दो चीज नहीं हैं अर्थात् आनन्दमें न सुख है न दुःख है। ऐसे ही प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित तत्त्वमें न अच्छा है, न बुरा है। इसलिये अच्छे और बुरेका भेद करके राजी और नाराज न हों।

संकल्प आयें अथवा जायँ, उसमें पहलेसे ही यह विचार कर लें कि वास्तवमें संकल्प आता नहीं है, यह तो जाता है। भूतकालमें हमने जो काम किये हैं, उनकी याद आती है अथवा भविष्यमें कुछ करनेका विचार पकड़ रखा है, उसकी याद आती है वहाँ जाना है, वह काम करना है आदि। इस तरह भूत और भविष्यकी बात याद आती है जो अभी है ही नहीं। भूत और भविष्यकी बात हम याद करते ही नहीं, प्रत्युत उसकी याद आती है। वास्तवमें उसकी याद आ नहीं रही है, प्रत्युत जा रही है। मनमें जो बातें जमी हैं, वे निकल रही हैं। अतः आप उनसे सम्बन्ध मत जोड़ो, तटस्थ हो जाओ। सम्बन्ध नहीं जोड़नेसे आपको उसका दोष नहीं लगेगा।

संसारमें बहुत-से पुण्य-कर्म होते हैं, पर क्या हमें उनसे पुण्य होता है? ऐसे ही संसारमें बहुत-से पाप-कर्म होते हैं, पर क्या हमें उनका पाप लगता है? नहीं लगता। क्यों नहीं लगता? कि हमारा उनसे सम्बन्ध नहीं है। उनके साथ हमारा सहयोग नहीं है। जैसे संसारमें पुण्य-पाप हो रहे हैं, ऐसे ही मनमें संकल्प-विकल्प हो रहे हैं। हम उनको कर नहीं रहे हैं, करना चाहते भी नहीं, करनेका संकल्प भी नहीं है। हमें तो कभी भी कुछ नहीं करना है। हम उनके साथ चिपक जाते हैं तो उनकी पुण्य और पापकी, अच्छे और बुरेकी संज्ञा हो जाती है, जिससे उनका फल पैदा हो जाता है और वह फल हमें भोगना पड़ता है। इसलिये उनके साथ मिलें नहीं। न अनुमोदन करें, न विरोध करें। संकल्प-विकल्प उठते हैं तो उठते रहें। यह करना है और यह नहीं करना है—हम दोनोंको उठा दें।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। (गीता ३। १८)

करने और न करने—दोनोंका ही आग्रह न रखें। करनेका आग्रह रखना भी संकल्प है और न करनेका आग्रह रखना भी संकल्प है। करना भी कर्म है और न करना भी कर्म है। अतः करने और न करने—दोनोंसे कोई मतलब न रखकर चुप हो जायँ तो प्रकृतिका सम्बन्ध छूट जाता है, क्योंकि क्रियारूपसे प्रकृति ही है। वह क्रिया चाहे बाहरकी हो, चाहे मनकी हो, सब प्रकृतिकी ही है। इस प्रकार बाहर-भीतरसे चुप हो जायँ तो उसको तत्त्वज्ञान कहते हैं, जीवन्मुक्ति कहते हैं, सहज-समाधि कहते हैं, वह हो जायगी।

उत्तमा सहजावस्था मध्यमा ध्यानधारणा।
कनिष्ठा शास्त्रचिन्ता च तीर्थयात्राऽधमाऽधमा॥

—छोटा-से-छोटा साधन तीर्थयात्रा है। उससे ऊँचा शास्त्र-चिन्तन है। शास्त्र-चिन्तनसे ऊँची ध्यान-धारणा है और ऊँची-से-ऊँची सहजावस्था (सहज समाधि) है, उस सहजावस्थामें आप पहुँच जायँगे। इसका बड़ा भारी माहात्म्य है। नहीं करनेका जो माहात्म्य है, वह करनेका है ही नहीं, कभी हुआ ही नहीं, कभी होगा भी नहीं। नहीं करनेमें जो सामर्थ्य है, वह करनेमें है ही नहीं। कारण कि करनेका आरम्भ और अन्त होता है। जिसका आरम्भ और अन्त होता है, वह नित्य नहीं होता। परन्तु न करनेका आरम्भ और अन्त नहीं होता। अतः वह नित्य है।

वास्तवमें चुप होना नहीं है, चुप तो स्वाभाविक है। जिनके वेदान्तके संस्कार हैं, वे समझ जायँगे कि आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता है। अतः सहजावस्था स्वाभाविक है। करना तो अनत्यि है, पर न करना नित्य है—

दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।
दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की-ठौड़॥

सहजावस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है। सुषुप्ति

और सहजावस्थामें फर्क यही है कि सुषुप्तिमें तो बेहोशी रहती है, पर सहजावस्थामें बेहोशी नहीं रहती, प्रत्युत होश रहता है, जागृति रहती है, ज्ञानकी एक दीप्ति रहती है—**'आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते'** (गीता ४। २७)।

चुप होते समय अगर नींद आ जाय तो जप-कीर्तन करना शुरू कर दो, खड़े हो जाओ। परन्तु जबतक नींद न आये, तबतक 'कुछ नहीं करना है'—इसमें रहो, चुप रहो। एक-दो सेकेण्ड भी इस प्रकार चुप हो जाओ तो बड़ा लाभ है। अगर आधा मिनट हो जाय तो बड़ी शक्ति पैदा होती है। चुप रहनेमें जो शक्ति पैदा होती है, वह शक्ति करनेमें कभी पैदा नहीं होती। करनेमें तो शक्ति खर्च होती है। आप काम करते-करते थक जाते हैं तो फिर सो जाते हैं। गहरी नींदमें सब थकावट दूर हो जाती है और मनमें, इन्द्रियोंमें, शरीरमें ताजगी आ जाती है, करनेकी शक्ति आ जाती है। ऐसे ही प्रलयमें चुप हो जाते हैं तो सर्गकी सामर्थ्य आ जाती है। महाप्रलयमें चुप हो जाते हैं तो महासर्गकी सामर्थ्य आ जाती है। इस प्रकार जितनी भी सामर्थ्य है, वह सब-की-सब न करनेसे आती है। न करना ही परमात्माका स्वरूप है ज़िससे सब सामर्थ्य आती है।

कुछ दिन विचार किये बिना यह चुप होनेकी अटकल आती नहीं। आप कुछ दिन विचार करोगे, तब समझमें आयेगी। अभी समझमें न आनेपर भी 'ऐसी सहजावस्था होती है'—यह मान लें। इस सहजावस्थाका वर्णन सन्तोंकी वाणीमें भी बहुत कम आता है। सींथलमें श्रीहरिरामदासजी महाराज हुए। उनकी वाणीमें आता है—

सहजां मारग सहज का, सहज किया विश्राम।
'हरिया' जीव र सीव का, एक नाम अरु ठाम॥

सहज तन मन सहज पूजा।
सहज सा देव नहीं और दूजा॥

उन्होंने अपना परिचय भी इस प्रकार दिया है—

हरिया जैमलदास गुरु, राम निरंजन देव।
काया देवल देहरो, सहज हमारे सेव॥

अर्थात् श्रीजैमलदासजी महाराज हमारे गुरु हैं, जो प्रकृतिसे अत्यन्त अतीत हैं, वह हमारा देव है, यह शरीर हमारा देवल है और सहज (कुछ नहीं करना) हमारी सेवा है। कबीरदासजीकी वाणीमें आता है—***'साधो सहज समाधि भली'***। अन्य सन्तोंकी वाणीमें सहजावस्थाका बहुत कम वर्णन आता है, झलक-सी आती है। ऐसी सहजावस्थाकी प्राप्तिका उपाय है—बाहर-भीतरसे चुप (मौन) हो जाना अर्थात् कुछ नहीं करना। कुछ नहीं करनेसे सब कुछ हो जाता है। सब साधनोंका अन्तिम साधन है—कुछ नहीं करना। कुछ नहीं करनेमें सब साधन भरती हो जाते हैं। इसको 'सहज समाधि' कहते हैं। इसको सन्तोंने 'मूक सत्संग' भी कहा है।

श्रोता—अपने मनका निरीक्षण भी न करें क्या ?

स्वामीजी—नहीं, बिलकुल नहीं करना है। मनका निरीक्षण तभी करेंगे, जब मनके साथ अपना सम्बन्ध मानेंगे, जब कि मनके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं। अतः मनकी तरफ देखना ही नहीं है। मनका निरीक्षण न करना भी कोई मामूली चीज नहीं है, बहुत ऊँची चीज है। जैसे अरबों रुपयोंका एक पैसा भी अंश है, ऐसे ही जिसको परमात्म-प्राप्ति, जीवन्मुक्ति, सहज समाधि कहते हैं। उसका अंश है यह।

श्रोता—किसी भी साधनमें यह (चुप-साधन) कर सकते हैं ?

स्वामीजी—हाँ, किसी भी साधनमें कर सकते हैं और हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी आदि कोई भी कर सकता है। मैंने दो बातें पहले कही थीं। एक तो ज्ञानमार्गकी बात बतायी कि परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं, 'है'—रूपसे विद्यमान हैं—ऐसी धारणा कर लें। दूसरी भक्तिमार्गकी बात बतायी कि भगवान्‌के चरणोंमें पड़

जायँ ! ये दो खास मार्ग हैं—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥

(मानस ७। ११५। ७)

हमें करना कुछ है ही नहीं—न पहले करना था, न अभी करना है, न बादमें करना है। भगवान्‌का चिन्तन भी नहीं करना है। भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाना है, पर चरणोंका चिन्तन नहीं करना है। न संसारका चिन्तन करना है, न भगवान्‌का। अपने-आप चिन्तन हो जाय तो ऐसा मानो कि चिन्तन मिट रहा है, आ नहीं रहा है। यह अन्तिम साधन है।

सभी परमात्मप्राप्ति कर सकते हैं

एक ऐसी बात है, जिसकी महिमा मैं कह नहीं सकता। अगर आप ध्यान दें तो सदाके लिये निहाल हो जायँ। वह यह है—ऐसा कोई पारमार्थिक साधन है ही नहीं, जिसके लिये हम कह सकें कि इसको तो हम नहीं कर सकते और ऐसा कोई सांसारिक कार्य नहीं है, जिसको सब कर सकते हों। कारण कि परमात्मप्राप्तिकी योग्यता, सामर्थ्य तो सभी मनुष्योंमें है, परन्तु सांसारिक वस्तुओंको प्राप्त करनेकी योग्यता, सामर्थ्य सभी मनुष्योंमें नहीं है। जैसे कामनाकी पूर्ति करना और कामनाका त्याग करना—ये दो बातें हैं। कामनाकी पूर्ति कभी कोई कर ही नहीं सकता। हम इन्द्र बन जायँ, महाराजा बन जायँ, बड़े धनी बन जायँ, कितनी ही सम्पत्ति इकट्ठी कर लें, तो भी कामनाकी पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती। परन्तु कामनाका त्याग हो सकता है। सांसारिक पूर्ति कोई कभी कर ही नहीं सकता और परमात्माकी प्राप्ति सभी कर सकते हैं। इसमें कोई अयोग्य है ही नहीं; क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है। जिस कामके लिये शरीर मिला है, वही काम यदि नहीं कर सकता तो फिर क्या कर सकेगा वह ? सांसारिक पूर्तिके लिये शरीर मिला ही नहीं है तो फिर उसकी पूर्ति कैसे कर सकता है ? कर ही नहीं सकता।

परमात्माकी प्राप्ति करनेमें, सांसारिक कामनाका त्याग करनेमें सब-के-सब स्वाधीन हैं और सांसारिक कामनाकी पूर्ति करनेमें सब-के-सब पराधीन हैं। यहाँ इतने लोग बैठे हैं, कोई सांसारिक कामना पूरी करनेमें समर्थ हो तो बताये ! कभी कोई समर्थ है ही नहीं। परन्तु कामनाका त्याग करनेमें, परमात्माकी प्राप्ति करनेमें सब-के-सब समर्थ हैं, कोई असमर्थ नहीं है। सब-के-सब पात्र हैं; कोई अपात्र नहीं है, सब-के-सब योग्य हैं, कोई अयोग्य नहीं है। सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति दो मनुष्योंको भी कभी एक समान नहीं

होती, पर परमात्माकी प्राप्ति सबको एक समान होती है। पहले नारद, व्यास, शुकदेव आदि महात्माओंको जिस तत्त्वकी प्राप्ति हुई है, उसी तत्त्वकी प्राप्ति आज भी कोई करना चाहे तो कर सकता है। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो अथवा शूद्र हो; ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो, वानप्रस्थ हो अथवा संयासी हो; बीमार हो अथवा स्वस्थ हो; अनपढ़ हो अथवा पढ़ा-लिखा हो; निर्धन हो अथवा धनवान् हो—सब-के-सब परमात्माकी प्राप्तिके अधिकारी हैं। इसमें आप खूब शंका करें; शंका टिकेगी नहीं ! सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें कोई भी स्वतन्त्र नहीं है; क्योंकि उनकी प्राप्ति दूसरोंके अधीन है। दूसरेकी अधीनता स्वीकार किये बिना, दूसरेकी सहायता लिये बिना अकेला कोई सांसारिक भोगोंको भोग ही नहीं सकता। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति अकेला ही कर सकता है, क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिमें किसीकी सहायताकी किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। परमात्माकी प्राप्तिमें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं।

पारमार्थिक बात बतानेवाले भी हर समय तैयार हैं। दत्तात्रेयजी महाराजने चौबीस गुरु बनाये तो पारमार्थिक बात बतानेवालोंको ही गुरु बनाया, नहीं बतानेवालोंको वे गुरु कैसे बनाते ? गुरुका कभी अभाव होता ही नहीं।

बालकपनमें खिलौनोंकी कामना होती है, पर आज खिलौनोंकी कामना होती है क्या ? इससे सिद्ध हुआ कि कामना छूटती है। यह आपके अनुभवकी बात है। सांसारिक कामना टिक नहीं सकती। एक कामना छूटती है तो आप दूसरी कामना पकड़ लेते हैं। इस तरह आप नयी-नयी कामना पकड़ते रहते हैं। अगर पकड़ना छोड़ दें तो निहाल हो जायँ ! परमात्मप्राप्तिकी कामना तो कभी किसीकी नहीं मिटती, केवल दब जाती है। जो कामना टिकती नहीं, उसको तो पकड़ते रहते हैं और जो कामना मिटती नहीं, उसकी तरफ ध्यान ही नहीं देते—यह हमारी वस्तुस्थिति है। परमात्मप्राप्तिकी कामना पूरी करनेमें आप सब

सबल हैं, निर्बल नहीं हैं, परन्तु सांसारिक कामना पूरी करनेमें आप सब निर्बल हैं, कोई सबल नहीं।

श्रोता—संसारकी इच्छा और परमात्माकी इच्छा—दोनों बिलकुल विपरीत होते हुए भी एक ही जगह रहती हैं क्या ?

स्वामीजी—दोनों इच्छाएँ एक ही जगह होती हैं। जहाँ भोगकी इच्छा है, वहीं मोक्षकी भी इच्छा है। भोगकी इच्छा निवृत्त होगी और परमात्माकी इच्छा जाग्रत् हो जायगी। संसारकी इच्छाको मिटा दो तो परमात्माकी इच्छा आप-से-आप पूरी हो जायगी। संसारकी इच्छा कभी पूरी नहीं होगी। लाखों, करोड़ों, अरबों जन्म हो जायँगे तो भी पूरी नहीं होगी, प्रत्युत नयी-नयी पैदा होती रहेगी—***'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।'***

श्रोता—दोनों विपरीत इच्छाएँ एक ही जगह कैसे रहती हैं ?

स्वामीजी—एक इच्छाको तो आपने पकड़ा और एक इच्छा आपमें स्वतः है। संसारकी इच्छाको तो आपने पकड़ा है और परमात्माकी इच्छा आपमें खुदमें है। मैं सदा जीता रहूँ, मेरेमें और कोई अज्ञान न रहे, मैं सदा सुखी रहूँ—यह आपकी खुदकी इच्छा है। भोगोंकी इच्छा आपकी खुदकी नहीं है।

इच्छाके प्रेरक आप खुद ही हैं। अगर आप खुद सांसारिक इच्छाको छोड़ दें तो वह टिक सकती ही नहीं। जिसकी पूर्ति होनी असम्भव है, उसको तो छोड़ ही देना चाहिये। सांसारिक इच्छा इसलिये पूरी नहीं होती कि संसार 'नहीं' है और परमात्मप्राप्तिकी इच्छा इसलिये पूरी होती है कि परमात्मा 'है'। सांसारिक वस्तुएँ कभी सदा नहीं रहतीं, मिट जाती हैं, पर परमात्मा सदा ही रहते हैं।

श्रोता—संसारमें रहकर संसारकी इच्छासे अलग कैसे रह सकते हैं ?

स्वामीजी—संसारमें रहकर भी सब तरहकी इच्छा होती है

क्या ? नहीं हो सकती। बनावटी इच्छा सब तरहकी कैसे हो सकती है ? भोजनमें भी दो आदमियोंकी एक इच्छा नहीं होती। किसीको मीठा अच्छा लगता है, किसीको मिर्च अच्छी लगती है। किसीको थोड़ी मिर्च अच्छी लगती है, किसीको ज्यादा मिर्च अच्छी लगती है। इस तरह संसारकी सब इच्छाएँ सबको नहीं होतीं। अतः संसारकी इच्छा छूटनेवाली है। जैसे संसारकी दूसरी इच्छाओंसे आप अलग रहते हैं, ऐसे ही जिन इच्छाओंको आपने पकड़ रखा है, उन इच्छाओंसे भी आप अलग रह सकते हैं।

वास्तवमें आप स्वयं संसारमें रहते ही नहीं, प्रत्युत परमात्मामें ही रहते हैं—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७)। संसारमें तो शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि रहते हैं—**'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि'** (गीता १५। ७)। जो आपके नहीं हैं, उन शरीरादिको तो आप अपना मान लेते हैं और जो आपके अपने हैं, उन परमात्माको आप अपना नहीं मानते—यह खास भूल है।

श्रोता—परमात्माको देखे बिना अपना कैसे मानें ?

स्वामीजी—आप स्वयं दीखते हो क्या ? आप कहते हैं कि शरीर मेरा है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, तो इससे सिद्ध होता है कि आप शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे अलग हैं। अतः आप कैसे हैं ? आपका रंग-रूप कैसा है ? बताओ। आप स्वयं नहीं दीखते, फिर भी अपनेको मानते हो कि नहीं ? अभी तो बात चल रही है, उसकी तरफ आप ध्यान तो दो जिस इच्छाकी पूर्ति नहीं हो सकती, उसको तो छोड़ दो और जिस इच्छाकी पूर्ति हो सकती है, उसको पकड़ लो—इतनी ही तो बात है। सिद्धान्तकी एकदम पक्की बात है।

'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।' (गीता ६। २२)

—जिसकी प्राप्तिसे बढ़कर दूसरा कोई लाभ है ही नहीं और दुःख जिसके नजदीक ही नहीं पहुँचता, उसकी प्राप्ति आप सबको हो

सकती है; परन्तु यह तब होगी, जब आप दूसरी (सांसारिक) इच्छा नहीं रखोगे। अगर परमात्माकी इच्छा भी रहेगी और संसारकी इच्छा भी रहेगी, तो काम नहीं बनेगा—*'दुविधामें दोनों गये, माया मिली न राम।'*

श्रोता—भगवान् सांसारिक कामना पैदा कर देते हैं!

स्वामीजी—भगवान् कभी किसीकी कामना पैदा नहीं करते, नहीं करते, नहीं करते! कामना तो आपकी अपनी बनायी हुई है। आप सच्चे हृदयसे प्रार्थना करो तो भगवान् मिटा देंगे। जिससे आपपर आफत आये, ऐसा काम भगवान् नहीं करते; क्योंकि आप भगवान्के अंश हैं। अंशी अपने अंशका बिगाड़ कैसे कर सकता है?

दृढ़ विचारसे लाभ

श्रोता—जबतक हमारे सामने सांसारिक भोग नहीं आते, तबतक तो हमारा दृढ़ भाव रहता है कि हम भोगोंमें फँसेंगे नहीं, परन्तु भोग सामने आनेपर हम कमजोर हो जाते हैं ! हम क्या करें ?

स्वामीजी—बहुत सुन्दर प्रश्न है ! भोगोंमें न फँसनेका जो यह भाव है, यह बहुत ही दुर्लभ चीज है, बड़ी भारी कीमती चीज है। संसारका सम्बन्ध तोड़ना और भगवान्‌का सम्बन्ध जाग्रत् करना—यह खास मनुष्यता है। वास्तवमें देखा जाय तो संसारके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ता नहीं और भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध टूटता नहीं। हम संसारके साथ एक हो जायँ और भगवान्‌से अलग हो जायँ—यह बिलकुल असम्भव बात है। हमारेमें यह शक्ति नहीं है कि हम भगवान्‌से अलग हो जायँ और सर्वसमर्थ होते हुए भी भगवान्‌में यह शक्ति नहीं है कि वे हमारेसे अलग हो जायँ। वास्तविक बात यह है कि हमारा संसारके साथ सम्बन्ध नहीं है और भगवान्‌के साथ सम्बन्ध है। जो नहीं है, उसको तोड़ दें और जो है, उसे जाग्रत् कर दें—यह हमारा खास काम है।

जबतक सामने पदार्थ नहीं आते, तबतक यह दृढ़ भाव रहता है कि हम भोगोंमें फँसेंगे नहीं—इतनी बात भी अगर आपकी हो गयी है तो यह बड़े भारी आनन्दकी बात है ! भोगोंकी इच्छा न होना बहुत ऊँचे दर्जेकी बात है, मामूली बात नहीं है। संसारको छोड़नेकी और भगवान्‌को प्राप्त करनेकी थोड़ी भी इच्छा हुई है तो इसका फल नाशवान् नहीं होगा, प्रत्युत अविनाशी फल (कल्याण) ही होगा—**'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'** (गीता २।४०)। लाखों, करोड़ों, अरबों रुपये मिल जायँ तो वे भी इसके

सामने कुछ नहीं हैं। त्रिलोकीका राज्य मिल जाय तो उसकी केश-जितनी भी इज्जत नहीं है, क्योंकि यह सब नाशवान् है।

सामने पदार्थ आनेपर हम विचलित हो जाते हैं—यह दशा हमारी क्यों है कि हम विचार कर-करके छोड़ देते हैं, ऐसी खराब आदत पड़ी हुई है। सत्संगमें सुनकर, पुस्तकोंमें पढ़कर विचार करते हैं कि अब ऐसा करेंगे, पर फिर उसको छोड़ देते हैं। मामूली बातोंको भी पकड़कर फिर छोड़ देते हैं। यह आदत ही आपको कमजोर करती है। अगर आपकी ऐसी आदत होती कि किसी बातको छोड़ दिया तो छोड़ ही दिया, पकड़ लिया तो पकड़ ही लिया, तो आपकी यह दुर्दशा नहीं होती। क्षमा करना, बुरा न लगे आपको; परन्तु है यह दुर्दशा ही ! हरेक कामका विचार करते हैं तो उस विचारपर स्थायी नहीं रहते। पदार्थोंमें, संग्रहमें इतना अवगुण नहीं है, जितना अवगुण हमारी खराब आदतमें है। जबतक आपमें दृढ़ता नहीं है, तबतक आप किसी भी क्षेत्रमें जाओ, आप उन्नति नहीं कर सकते। आदत बिगड़नेसे बड़ा भारी नुकसान हो रहा है। अगर एक बातपर दृढ़ रहनेकी आदत बना लो तो निहाल हो जाओगे। भगवान् मेरे हैं तो चाहे कुछ भी हो जाय, भगवान् ही मेरे हैं। संसार मेरा नहीं है तो मेरा है ही नहीं।

सत्य बोलना है तो पक्का विचार कर लो कि आजसे सत्य ही बोलना है, झूठ बोलना ही नहीं है। इसमें भी 'हम झूठ नहीं बोलेंगे'—इस बातपर अटल रहो,'हम सत्य बोलेंगे'—इस बातपर नहीं। त्यागकी बहुत बड़ी महिमा है। चाहे कुछ भी हो जाय, हम झूठ नहीं बोलेंगे। चाहे प्रतिष्ठा जाती हो, इज्जत जाती हो, पैसा जाता हो, हमारी कुछ भी हानि होती हो, पर हम झूठ नहीं बोलेंगे। अगर सत्य बोलनेका अवसर आनेपर आप कमजोर पड़ जाओ, सत्य बोलनेकी हिम्मत न रहे तो इतनी ढिलाई भले ही रख लो कि झूठ मत बोलो,

चुप रह जाओ। सामनेवालेसे कह दो कि सभी बातें सबको बतानेकी नहीं होतीं, इसलिये हम नहीं बतायेंगे। हमारेमें सच्ची बात बतानेकी सामर्थ्य नहीं है; सच्ची बात कहनेका अभी विचार नहीं है; पूरी बात बतानेका हमारा मन नहीं है। वहाँसे उठकर चल दो कि 'हमें काम है'। काम यही है कि बताना नहीं है। ऐसा करनेसे 'हम झूठ नहीं बोलेंगे'—यह आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो जायगी। यह आपको ऐसा उपाय बताया है, जिसको आप कर सकते हो।

आपने एक बार जो पक्का विचार कर लिया है, उस विचारकी फिर कभी हत्या मत करो। अपने विचारोंकी हत्या बार-बार जन्म-मरण देनेवाली है। अतः अपना विचार पक्का रखो कि पदार्थ भले ही सामने आ जायँ, अब हम विचलित नहीं होंगे, अब हम थूककर नहीं चाटेंगे। अपने विचारपर दृढ़ रहनेसे आपमें एक शक्ति आयेगी, एक बल आयेगा। फिर आपकी यह दशा नहीं रहेगी। लोग भले ही आपको कायर कहें, आपकी निन्दा करें, उसकी परवाह मत करो। हमें तो अपने विचारोंको पक्का करना है।

आप जैसे हो, वैसा आपको सुगम साधन तो मैं बता दूँगा, पर धारण तो आपको ही करना पड़ेगा। आपको बहुत सुगम, बहुत सरल साधन मैं बता दूँगा और आपसे यह बात स्वीकार भी करा लूँगा, इस साधनको हम कर सकते हैं और इससे हमारा भला हो सकता है! आप केवल तैयार हो जाओ, इतनेमें काम बन जायगा। कारण कि मूलमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है। अब परमात्मा नहीं मिलेंगे तो और क्या मिलेगा? संसार तो मिल ही नहीं सकता। वहम होता है कि रुपये मिल गये, कुटुम्ब मिल गया। सब खत्म हो जायगा मिला कहाँ? संसार मिल नहीं सकता और भगवान्‌से अलग हो नहीं सकते, बिलकुल सच्ची बात है यह।

हम किसीका भी अहित नहीं करेंगे, किसीको भी दुःख नहीं

देंगे—इसपर आप दृढ़ रहो। यह बात मामूली दीखती है, पर वास्तवमें इसका बहुत बड़ा माहात्म्य है। भजन, ध्यान, जप आदिसे इसका कम माहात्म्य नहीं है। यह बहुत कीमती बात है, पर लोग इसकी तरफ ध्यान नहीं देते, इसको ऐसे ही छोड़ देते हैं ! जैसे रोग मिटनेपर भूख लगने लगती है और भोजन करनेपर शरीरमें ताकत आनी शुरू हो जाती है। पाचन ठीक होता है तो रूखा अन्न खानेपर भी शक्ति आने लगती है। इसी तरह आप अपने विचारपर दृढ़ रहो तो आपमें एक शक्ति आ जायगी। अतः अपने विचारपर पक्के रहो कि हम असत्य बोलेंगे ही नहीं, चाहे कुछ भी हो जाय। हम चतुराई नहीं करेंगे। इस बातसे आप मत डरो कि हमारी बेइज्जती हो जायगी। झूठ बोलकर छिपाव करोगे तो इससे बहुत बड़ी बेइज्जती होगी, कम नहीं होगी। बिना छिपावके आपकी बहुत इज्जत होगी। चालाकी करोगे तो अच्छे पुरुषोंके हृदयसे गिर जाओगे कि यह कोई कामका आदमी नहीं है। ठाकुरजीके हृदयसे गिर जाओगे। अतः चतुराई मत करो, सीधी-साफ बात कह दो। साफ बात कहनेसे कोई फाँसी थोड़े ही देता है ? ऐसा करना कोई कठिन बात नहीं है। अपने कल्याणका विचार होनेसे यह बात बहुत सुगम हो जायगी। पहले थोड़ा-सा भय लगता है, फिर भय मिट जाता है।

अतः मेरेसे कोई बात पूछें तो मैं बता दूँगा, नहीं तो हजारों आदमियोंके सामने कह दूँगा कि मैं जानता नहीं। सीधी बात कहनेमें हमारेको क्या बाधा लगी ? लोग हमारेको अज्ञ, मूर्ख मानेंगे, बेसमझ मानेंगे, और क्या होगा ? समझदार मानकर कौन-सी भगवत्प्राप्ति करा देंगे और बेसमझ मानकर कौन-सी भगवत्प्राप्तिमें आड़ लगा देंगे ? जो हम जानते हैं, वह बतायेंगे; जो नहीं जानते हैं, वह नहीं बतायेंगे और कई बातें ऐसी हैं, जो हम जानते हैं, पर नहीं बतायेंगे। मेरा ऐसा कहनेका काम पड़ा है कि तुम यह पूछते हो, पर इस बातको बतानेसे

तुम्हें फायदा नहीं है, इसलिये नहीं बताऊँगा।

इस बातसे डरो मत कि हमारी पोल निकल जायगी। पोल निकल जायगी तो ठोस रह जायगी! पोल रखकर क्या करोगे? आश्चर्य आता है कि वेदव्यासजी महाराजने अपने जन्मकी बात श्लोकबद्धरूपसे कई बार लिख दी! क्या हृदय है उनका! इसके कारण वे पूजनीय हैं, आदरणीय हैं। सच्ची बात प्रकट करनेसे नुकसान नहीं होता। केवल वहम है कि नुकसान हो जायगा।

भोगासक्ति कैसे छूटे ?

श्रोता—जब भोग-पदार्थ सामने आते हैं, तब न जाने क्यों हम विचलित हो जाते हैं; अतः उस समयमें हम क्या करें ?

स्वामीजी—जिसने लाठी चलाना पहले ही सीख लिया है, वही शत्रुके सामने आनेपर उससे मुकाबला कर सकता है। परन्तु शत्रु पहले ही सामने आ जाय और लाठी चलाना सीखा नहीं, वहाँ तो लाठी खानी ही पड़ेगी ! सत्संगकी बातोंको तो आप जानते हैं, पर जब भोग सामने आते हैं, तब उन बातोंको भूल जाते हैं, वे बातें काम नहीं आतीं।

तब लगि सब ही मित्र है, जब लगि पर्‍यो न काम।
हेम अगन शुद्ध होत है, पीतल होवे स्याम॥

जबतक काम नहीं पड़ता, तबतक सब ही मित्र हैं। काम पड़नेसे ही पता लगता है कि कौन मित्र है और कौन मित्र नहीं है। सोना भी पीला दीखता है और पीतल भी पीला दीखता है, परन्तु आगमें रखनेपर सोना तो चमकता है और पीतल काला हो जाता है।

एक सीखी हुई बात होती है और एक जानी हुई बात होती है। जानी हुई बात वास्तविक होती है, जो कभी इधर-उधर नहीं होती। सीखी हुई बात बुद्धितक ही रहती है, स्वयंतक नहीं पहुँचती। परन्तु जानी हुई बात स्वयंतक पहुँचती है। जबतक कोई बात स्वयंतक नहीं पहुँचती, तबतक वह व्यवहारमें जैसी आनी चाहिये, वैसी नहीं आती। जिसका उद्देश्य परमात्माकी प्राप्ति है, उसको सीखी हुई बातोंमें सन्तोष नहीं होता। सन्तोष न होनेसे उसके द्वारा खोज होती है कि वास्तवमें क्या बात है ? खोज करते-करते उसको तत्त्वका अनुभव हो जाता है।

एक सत्संग होता है और एक कथा-वार्ता, पुस्तकोंका विवेचन आदि होता है। कथा, व्याख्या आदिकी बातें तो बहुत जगह मिलती हैं, पर अनुभवी, भगवत्प्राप्त महापुरुषोंका सत्संग कम जगह मिलता है। अनुभवी महापुरुष पहले (सत्य, त्रेता, द्वापरमें) भी कम थे, आज

****

तो और भी कम हैं ! आज तो विद्यार्थी भी ठीक तरहसे शास्त्रका अध्ययन नहीं करते। कोरी परीक्षा देकर पास हो जाते हैं। पूछो तो बता नहीं सकते। जो पढ़ा है, वह भी नहीं बता सकते, फिर वास्तविक ज्ञान तो बहुत दूर रहा ! हमारी प्रार्थना है कि आप वास्तविक तत्त्वको समझें, कोरी पढ़ाई न करें।

जब भोग सामने आते हैं, तब सब सुनी-सुनायी बातें रद्दी हो जाती हैं। एक कहानी है। एक पण्डित थे। वे रोज रात्रिमें कथा किया करते थे। उन्होंने एक बिल्लीको पालकर सिखा रखा था। वे बिल्लीको बैठाकर उसके सिर थोड़ी मिट्टी रखकर दीपक रख देते और उस दीपकके प्रकाशमें कथा बाँचते। कोई कहता कि हमारा मन ठीक नहीं है तो वे कहते—'अरे ! यह बिल्ली ही ठीक है, एकदम चुपचाप बैठी रहती है, तुम्हारी क्या बात है ?' एक आदमीने विचार किया कि देखें, बिल्ली कैसे चुपचाप बैठती है। वह दूसरे दिन अपने साथ एक चूहा ले गया। जब पण्डितजीकी कथा चल रही थी, उस समय उसने चूहेको बिल्लीके सामने छोड़ दिया। चूहेपर दृष्टि पड़ते ही बिल्ली उसपर झपट पड़ी और दीपक गिर गया ! यही दशा आदमियोंकी होती है। बातें सुनते समय तो चुपचाप बैठे रहते हैं, पर जब भोग-पदार्थ सामने आ जायँ तो फिर वशकी बात नहीं रहती। कारण कि भीतरमें रुपयों आदिका आकर्षण है, इसलिये रुपये सामने आनेपर मुश्किल हो जाती है। भोगोंका यह आकर्षण पहले नहीं था—यह बात नहीं है। आकर्षण तो पहलेसे ही था, पर वह दबा हुआ था। ताँबेके कड़ेके ऊपर सोनेकी पालिश कर दी जाय तो वह कड़ा सोनेका ही दीखता है। इसी तरह सीखी हुई बातें पालिशकी तरह होती हैं। परन्तु जानी हुई, अनुभव की हुई बात ठोस होती है। जिसके भीतरमें स्वयंका अनुभव होता है, उसके सामने चाहे कुछ भी आ जाय, वह विचलित नहीं होता। वह हर परिस्थितिमें ज्यों-का-त्यों रहता है।

परमात्माकी प्राप्तिको लोग कठिन मानते हैं; परन्तु वास्तवमें परमात्माकी प्राप्ति कठिन नहीं है, प्रत्युत भोगासक्तिका त्याग कठिन है। भगवान्‌ने कहा है—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २।४४)

जिनकी भोग और संग्रहमें आसक्ति है, वे परमात्माको प्राप्त करनेका निश्चय भी नहीं कर सकते, परमात्माको प्राप्त करना तो दूर रहा! हमें परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना है, अपना कल्याण ही करना है—यह बात उनमें दृढ़ नहीं रहती। अतः जबतक भीतरमें भोगोंका आकर्षण, महत्त्व बना हुआ है, तबतक बातें भले ही सीख जायँ, पर परमात्मप्राप्तिका निश्चय नहीं कर सकते। जब निश्चय ही पक्का नहीं रहेगा, तो फिर परमात्मप्राप्ति होगी ही कैसे?

अगर आप जड़, असत्, क्षणभंगुर पदार्थोंसे ऊँचे उठ जाओ तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन नहीं है। जो स्वतःसिद्ध है, उसको प्राप्त करनेमें क्या कठिनता है? कठिनता यही है कि जो नहीं है, उसमें आकर्षण हो गया। 'है' की प्राप्ति कठिन नहीं है, 'नहीं' का त्याग करना कठिन है। जब 'नहीं' का भी त्याग नहीं कर सकते, तो फिर और क्या त्याग करोगे? आश्चर्यकी बात है कि आप जाने हुए असत्‌का त्याग नहीं कर सकते! जिनको जानते हो कि ये असत् हैं, नाशवान् हैं, सदा साथ रहनेवाले नहीं हैं, आने-जानेवाले हैं, उनका भी त्याग नहीं करते—यह बहुत बड़ी गलती है।

असत्‌का आकर्षण कैसे छूटे? इसके लिये कर्मयोगका पालन करें। गीतामें भगवान्‌ने कर्मयोगकी बात विशेषतासे कही है और उसकी महिमा गायी है—**'कर्मयोगो विशिष्यते'** (५।२)। कर्मयोगकी बात गीतामें जितनी स्पष्ट मिलती है, उतनी अन्य ग्रन्थोंमें

नहीं मिलती। कर्मयोगका तात्पर्य है—दूसरोंको सुख देना और बदलेमें कुछ भी न चाहना। माँ-बापको सुख देना है। स्त्री, पुत्र, भाई-भतीजेको भी सुख देना है। पड़ोसियोंको भी सुख देना है। सबको सुख देना है। इसको काममें लाओ तो असत्‌का आकर्षण छूट जायगा।

किसी तरहसे दूसरोंको सुख मिल जाय, आराम मिल जाय—ऐसा जो भाव है, यह बहुत दामी चीज है, मामूली नहीं है। अगर आप चाहते हो कि विषय सामने आनेपर हम विचलित न हों, तो इस सिद्धान्तको पकड़ लो कि दूसरोंको सुख कैसे हो? दूसरोंको आराम कैसे हो? वस्तु मेरे पास हरदम नहीं रहेगी, अतः दूसरेके काम आ जाय तो अच्छा है—ऐसा भाव होनेसे सबके हितमें रति हो जायगी। जब दूसरोंके हितमें आपकी रति, प्रीति हो जायगी, तब भोगपदार्थ सामने आनेपर भी उनका त्याग करना सुगम हो जायगा। परन्तु 'मेरेको कैसे सुख हो? मेरेको सम्मान कैसे मिले? मेरी बड़ाई कैसे हो? मेरी बात कैसे रहे? मेरेको आराम कैसे मिले?'—यह भाव रहेगा तो त्रिकालमें भी कल्याण नहीं होगा, क्योंकि ऐसा भाव रखना पशुता है, मनुष्यता नहीं है।

दूसरेके हितका भाव होनेसे आपकी सुख भोगनेकी इच्छाका नाश हो जायगा।

मनुष्यकी तीन शक्तियाँ

मनुष्यमात्रमें तीन शक्तियाँ हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं कह सकता कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ और करना चाहता भी नहीं हूँ; मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ और जानना चाहता भी नहीं हूँ; मैं कुछ भी नहीं मानता हूँ और मानना चाहता भी नहीं हूँ। मनुष्य करता भी है और करना चाहता भी है, जानता भी है और जानना चाहता भी है, मानता भी है और मानना चाहता भी है। अगर करना, जानना और मानना—इन तीनोंके साथ 'योग' लग जाय तो ये तीनों मुक्ति देनेवाले हो जायँगे। करनेमें योग होनेसे 'कर्मयोग' हो जायगा, जाननेमें योग होनेसे 'ज्ञानयोग' हो जायगा और माननेमें योग होनेसे 'भक्तियोग' हो जायगा। योग तब होगा, जब समता होगी—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २।४८)। समताका मतलब है—राग-द्वेष, हर्ष-शोक न हो।

एक विलक्षण बात है। ऐसा कोई मनुष्य है ही नहीं, जो साधन न कर सके, परमात्माकी तरफ न चल सके। साधन करना चाहता नहीं, परमात्माकी तरफ चलना चाहता नहीं—यह बात अलग है। अगर वह चाहे तो साधन कर सकता है। मनुष्ययोनि साधनके लिये ही मिली है। यह साधनयोनि है, कर्मयोनि नहीं। दूसरी सब भोगयोनियाँ हैं।

मनुष्यमें करनेकी एक शक्ति है, आग्रह है। 'ऐसा करके फिर क्या करें'—यह प्रश्न उठता है तो इससे मालूम होता है कि भीतरमें करनेका वेग है। करनेका यह वेग अपने लिये कर्म करनेसे मिटेगा नहीं, प्रत्युत बढ़ेगा। कुछ भी अपने लिये किया जायगा तो करनेका वेग बढ़ेगा। करना और पाना (यह करेंगे, इससे यह मिलेगा)—ये

दो चीजें रहेंगी तो कर्मयोग नहीं होगा, कर्म होगा। करना दूसरोंके लिये होगा तो करनेका वेग मिट जायगा अर्थात् करना बाकी नहीं रहेगा।

संसारको जाननेसे जानना पूरा नहीं होगा। पढ़ाई करनेसे जानना पूरा नहीं होगा। जानना पूरा होगा स्वयंको जाननेसे। स्वयं मैं क्या हूँ—इसको जबतक नहीं जानोगे, तबतक कितना ही जान लो, कितना ही अध्ययन कर लो, कितनी ही पढ़ाई कर लो, कितनी ही लिपियाँ और भाषाएँ सीख लो, कला-कौशल सीख लो, तरह-तरहके हुनर सीख लो, पर जानना बाकी रहेगा। अपने स्वरूपको ठीक तरहसे जान लो तो जानना बाकी नहीं रहेगा।

संसारको, तरह-तरहकी चीजोंको मानते रहोगे तो मानना कभी पूरा नहीं होगा। मानना पूरा होगा परमात्माको माननेसे। परमात्मा माननेका ही विषय है; क्योंकि माननेके सिवाय उसको जान नहीं सकते, देख नहीं सकते, सीख नहीं सकते। अतः परमात्मा है—ऐसा दृढ़तासे मान लोगे तो मानना पूरा हो जायगा।

माननेके साथ ज्ञानका विरोध न हो। संसार पहले नहीं था और आगे नहीं रहेगा तथा अभी भी प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है—इसका हमें ज्ञान है। अतः संसारकी मान्यता ज्ञान-विरोधी है और नित्य रहनेवाली नहीं है। परमात्मा पहले भी था, आगे भी रहेगा और अभी भी है—यह मान्यता नित्य रहनेवाली है। परमात्मा केवल माननेका, श्रद्धाका विषय है, तर्कका विषय नहीं है। तर्कका विषय वह होता है, जिसके विषयमें हम कुछ जानते हैं, और कुछ नहीं जानते। परमात्माके विषयमें हम कुछ नहीं जानते, अतः उसको मानना ही पड़ता है। उसको मानें या न मानें—इसमें आप स्वतन्त्र हैं। परमात्माको, सन्त-महात्माको, शास्त्रको—इनको मानना ही पड़ता है। इस संसारका कोई आधार है, कोई आश्रय है; यह किसीसे उत्पन्न हुआ है, किसीके आश्रित है, किसीसे पालित है, किसीमें लीन हो जायगा—इस प्रकार पहले उसको

मानना पड़ेगा, फिर वह दीख जायगा।

हमारेसे गलती यही होती है कि हम न तो करनेमें, न जाननेमें और न माननेमें दृढ़ होते हैं। इतनी दृढ़ता होनी चाहिये कि अगर परमात्मा खुद आकर कह दे कि तुम गलत हो, तो कह दे कि इसमें आपकी गलती है, मेरी गलती नहीं है; आप भूल गये होंगे, मैं नहीं भूला हूँ! पार्वतीजीने कहा—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥

(मानस, बाल० ८१। ३)

यह मान्यता है। मिलेंगे तो परमात्मासे मिलेंगे। हमें और किसीसे मिलनेकी जरूरत नहीं है। हमें न तो भोगोंकी जरूरत है, न संग्रहकी जरूरत है, हमें तो एक परमात्माकी जरूरत है। ऐसा मान लें तो बेड़ा पार हो जायगा। दूसरा कुछ करनेकी, जाननेकी जरूरत नहीं। केवल दृढ़तासे मान लो तो प्राप्ति हो जायगी, पूर्णता हो जायगी, कमी नहीं रहेगी। केवल माननेसे सब काम हो जायगा।

अगर अपने-आपको ठीक-ठीक जान लो तो जानना पूरा हो जायगा। ठीक-ठीक जाननेमात्रसे बेड़ा पार हो जायगा। परन्तु अपने-आपको जाने बिना आप पृथ्वी और स्वर्ग-नरक-पाताल आदिकी कितनी ही बातें सीख लो, पर जानना बाकी रहेगा। ऐसे ही जबतक अपने लिये करोगे, तबतक चाहे कितना ही कर लो, ब्रह्म-लोकतक चले जाओ, पर करना बाकी रहेगा। केवल दूसरोंके लिये करोगे तो करना बाकी नहीं रहेगा।

तात्पर्य है कि दूसरोंके लिये 'करना' है, अपनेको 'जानना' है और परमात्माको 'मानना' है। इन तीनोंमेंसे किसी एकमें भी दृढ़ता होनेपर तीनोंकी पूर्ति हो जायगी। चाहे कर लो, चाहे जान लो और चाहे मान लो। करनेका ज्यादा वेग हो तो कर लो, जाननेकी जिज्ञासा

हो तो जान लो और माननेका स्वभाव हो तो मान लो। किसी एकपर भी दृढ़ हो जाओ तो करना, जानना और मानना कुछ भी बाकी नहीं रहेगा।

दूसरोंके लिये करना 'कर्मयोग' है, अपनेको जानना 'ज्ञानयोग' है और परमात्माको मानना 'भक्तियोग' है। इनमेंसे किसी एकके पूरा होनेपर तीनों पूरे हो जायँगे। जब करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहेगा, तब मनुष्यजीवन सफल हो जायगा।

प्रतिकूल परिस्थितिसे लाभ

मनुष्यशरीरको सबसे श्रेष्ठ माना गया है—'**लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते**' (श्रीमद्भा० ११ । ९ । २९) । अकारण कृपा करनेवाले प्रभु कृपा करके मनुष्यशरीर देते हैं—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर० ४४ । ३)

जैसे भगवान्‌ने कृपा करके मनुष्यशरीर दिया है, ठीक वैसे ही भगवान्‌ने हमारेको जो परिस्थिति दी है, वह भी कृपापूर्वक दी है। हमारे कर्म अच्छे हों, चाहे मन्दे हों, कैसे ही कर्म हमने किये हों; परन्तु उनके फलका विधान करनेवाला हमारा परम सुहृद् है—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५ । २९) ।

सांसारिक दृष्टिसे तो परिस्थिति दो प्रकारकी होती है—सुखदायी और दुःखदायी, पर पारमार्थिक दृष्टिसे परिस्थिति दो प्रकारकी नहीं होती। परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवालोंके लिये परिस्थितिके दो भेद नहीं होते; क्योंकि भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्यशरीर दिया है तो जो परिस्थिति दी है, वह भी अपनी प्राप्तिके लिये ही दी है। अतः चाहे अनुकूल-से-अनुकूल परिस्थिति हो, चाहे प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति हो, चाहे अनुकूल-प्रतिकूल-मिश्रित परिस्थिति हो, वह केवल हमारे कल्याणके लिये मिली है। जो कुछ परिस्थिति मिली है, वह केवल भगवत्प्राप्तिका साधन है—***'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा'*** (मानस, उत्तर० ४३ । ४)। जो भोगी होता है, उसीकी दृष्टिमें परिस्थिति सुखदायी और दुःखदायी—दो तरहकी होती है। योगीकी दृष्टिमें परिस्थिति दो तरहकी होती ही नहीं।

कल्याणके लिये अनुकूल परिस्थितिकी अपेक्षा प्रतिकूल परिस्थिति ज्यादा बढ़िया है। बढ़िया क्यों है? कि अनुकूलतामें तो रागके कारण संसारमें फँसनेकी बहुत सम्भावना रहती है, पर

प्रतिकूलतामें संसारमें फँसनेकी सम्भावना नहीं रहती, प्रत्युत केवल परमात्माकी तरफ चलनेकी मुख्यता रहती है। साधकके लिये दो ही बातें मुख्य हैं—संसारसे हटना और परमात्मामें लगना। अनुकूल परिस्थितिमें तो हम संसारसे चिपक जाते हैं; अतः संसारसे हटनेमें मेहनत पड़ती है; परन्तु प्रतिकूल परिस्थितिमें संसारसे हटनेमें मेहनत नहीं पड़ती। इसलिये प्रतिकूल परिस्थितिमें साधकका आधा काम हो जाता है !

प्रतिकूल परिस्थिति परमात्माकी प्राप्तिमें मुख्य साधन है। अगर हमें प्रतिकूलता अच्छी नहीं लगती है तो हम असली साधक नहीं हुए। असली साधक तब होंगे, जब यह मानेंगे कि हमारे प्रभुकी भेजी हुई परिस्थिति हमारे लिये मङ्गलमय है। यह एकदम पक्की, सिद्धान्तकी बात है। शास्त्रमें आता है।

लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथार्भके।
तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः ॥

'जिस प्रकार बच्चेका पालन करने और ताड़ना देने—दोनोंमें माताकी कहीं अकृपा नहीं होती, उसी प्रकार जीवोंके गुण-दोषोंका नियन्त्रण करनेवाले परमेश्वरकी कहीं किसीपर अकृपा नहीं होती।'

बालकको प्यार करनेमें और कभी चपत जमानेमें भी माँका हृदय दो नहीं होता; माँकी अकृपा नहीं होती। अकृपा नहीं होती—इतना ही नहीं है, प्रत्युत ताड़ना देनेमें विशेष कृपा होती है। किसी माँको प्यार उमड़े तो वह खेलते हुए सब बच्चोंको लड्डू बाँट देगी; परन्तु उद्दण्डता करनेवाले सब बच्चोंको चपत नहीं जमायेगी। जो बच्चा अपना है, उसीको चपत जमायेगी। इस तरहसे भगवान् अनुकूल परिस्थिति तो सबको दे देते हैं, पर प्रतिकूल परिस्थिति उन्हें देते हैं, जिनपर विशेष कृपा है, अपनापन है। अतः प्रतिकूल परिस्थितिमें भगवान्‌की विशेष कृपा प्राप्त होती है, हमारे पापोंका नाश होता है और हमारे जीवनमें

विकास होता है। जितने भी अच्छे-अच्छे पुरुष हुए हैं, उनके जीवनमें प्रायः प्रतिकूल परिस्थितिमें विकास हुआ है। बहुत कम ऐसे सन्त मिलेंगे, जो अनुकूल परिस्थितिमें उन्नति कर सके हैं।

देखो, प्रत्यक्ष बात बतायें। अभी कोई भी जीव-जन्तु या मनुष्य दुःख पाता है तो उसके साथ अच्छे आदमियोंका सहयोग रहता है कि इसका दुःख दूर कैसे हो ? परन्तु कोई भोगी व्यक्ति हो तो उसके साथ अच्छे लोगोंका सहयोग-सहानुभूति नहीं रहेगी, वह सबको अच्छा नहीं लगेगा। अच्छे सन्त तो उसको देखकर राजी हो जायँगे, पर हरेक आदमी उसको देखकर राजी नहीं होगा। मोटरपर चढ़े हुए भोगी व्यक्तिको देखकर पैदल चलनेवालोंका जी जलता है! वे उसके सहयोगी नहीं होते, प्रत्युत विरोधी होते हैं। जैसे जनता उसके सुखमें सहयोग नहीं देती, ऐसे भगवान्‌में भी उसके प्रति थोड़ी उपेक्षा रहती है। जैसे, बच्चा सुखी है, मौज कर रहा है, खेल रहा है तो माँमें उसके प्रति थोड़ी उपेक्षा रहती है। बालक दुःखी हो जाता है तो उसपर माँकी विशेष निगाह रहती है। इसी तरह दुःखदायी परिस्थितिमें भगवान्‌की विशेष कृपा रहती है। जैसे आपका सहयोग दुःखीके साथ विशेष रहता है, ऐसे ही भगवान्‌का सहयोग भी दुःखीके साथ विशेष रहता है।

दुःख आनेपर यदि साधक विशेष सावधानी रखे तो उसका विकास होगा; परन्तु दुःख पाकर रोने लगे तो विकास नहीं होगा। एक बालक पाँच-सात वर्षका था कि उसके माँ-बाप मर गये। अब वह तीस वर्षका हो गया। एक दूसरा बालक भी तीस वर्षका हुआ, जिसके माँ-बाप भी हैं, दादा-दादी भी हैं, बड़े भाई भी हैं। इन दोनोंमें कौन अधिक होशियार होगा ? जिसके माँ-बाप नहीं हैं, वह होगा। कारण कि दुःखमें हमारी जितनी जल्दी उन्नति होती है, उतनी अनुकूलतामें नहीं होती। दुःखमें नया विकास होता है। इससे सिद्ध क्या हुआ ? कि जो परिस्थिति भगवान्‌ने हमें दी है, वह हमारे कल्याणके लिये दी है, उद्धारके लिये दी है।

भोग भोगते हैं तो बुद्धि मारी जाती है, विकसित नहीं होती। सुखमें गफलत होती है। ज्यादा आराम मिलनेसे नींद आती है। दुःखमें नींद नहीं आती, गफलत नहीं होती। प्रतिकूल परिस्थितिमें हम साधन करें तो हमारा साधन बहुत तेजीसे चलेगा, क्योंकि इसमें हमारे पापोंका नाश होता है और प्रभुका, सन्त-महात्माओंका विशेषतासे सहयोग मिलता है। दुःखमें आदमी सावधान होता है। सुखमें वह सावधान नहीं होता। सुखमें आदमी हर्षित होता है तो उसमें घमण्ड आ जाता है और वह धर्मका अतिक्रमण कर जाता है—**'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्मादतिक्रामति।'** परन्तु दुःखी आदमी धर्मका अतिक्रमण नहीं करता। जो बड़े-बड़े धनी आदमी हैं, उनके घरपर साधु जा नहीं सकता, कोई माँगनेवाला जा नहीं सकता; क्योंकि आदमी लाठी लिये बैठे हैं; आगे जाने नहीं देते! परन्तु गरीब आदमीके घर हरेक साधु चला जायगा और उसको रोटी मिल जायगी। गरीब आदमीके मनमें आयेगा कि क्या पता, किस जगह हमारा भला हो जाय! हमें कोई आशीर्वाद मिल जाय! कैसे ही भावसे वह देगा। परन्तु धनी आदमीमें यह बात नहीं होगी। वह कह देगा कि नहीं-नहीं, हम नहीं देते, जाओ यहाँसे। अतः सुखी आदमीके द्वारा ज्यादा अच्छा काम नहीं होता; क्योंकि वह सुख भोगनेमें लगा रहता है। दुःखी व्यक्ति भोगोंमें नहीं फँसता, उपराम रहता है, इसलिये वह दूसरोंके लिये, अपने लिये और भगवान्‌के लिये ठीक होता है तथा भगवान्, जनता सब उसके लिये ठीक होते हैं। अतः दुःखदायी परिस्थितिमें साधकको प्रसन्नता होनी चाहिये, आनन्द होना चाहिये कि भगवान्‌ने बड़ी कृपा करके ऐसा मौका दिया है। इस बातको कुन्ती समझती थी, इसलिये उसने भगवान्‌से विपत्ति माँगी और कहा कि 'हे नाथ! हमारेको सदा विपत्ति मिलती रहे'—**'विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो'** (श्रीमद्भा० १।८।२५)। रन्तिदेवने कहा कि 'जितने भी दुःखी

आदमी हैं, उन सबका दुःख तो मैं भोगूँ और वे सभी दुःखसे रहित हो जायँ'—**'आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुखाः'** (श्रीमद्भा॰ ९। २१। १२)। कितनी विचित्र बात कही है! सबका दुःख मै भोगूँ—यह मामूली बात नहीं है। यह बड़ी ऊँचीं दृष्टि है।

सुख-सामग्री भोगनेके लिये नहीं है। सुख-सामग्री है दूसरोंका हित करनेके लिये, सहायता करनेके लिये। यह शरीर सुख-भोगके लिये दिया ही नहीं गया है—***'एहि तन कर फल बिषय न भाई'*** (मानस उत्तर॰ ४४। १)। यह तो आगे उन्नति करनेके लिये दिया गया है। मनुष्य सदाके लिये सुखी हो जाय, उसका दुःख सदाके लिये मिट जाय—इसके लिये ही यह मनुष्य-शरीर दिया गया है।

श्रोता—सुखमें सब साथी रहते हैं, दुःखमें कोई नहीं रहता।

स्वामीजी—दुःखमें वे साथी नहीं रहते, जो भोगी होते हैं, जो सज्जन पुरुष होते हैं, वे दुःखीपर विशेष कृपा करते हैं, दुःखीका सहयोग करते हैं। जो केवल सुखके साथी होते हैं, वे भोगी होते हैं। वे उससे सुख चाहते हैं, उसका भला नहीं चाहते। सुखीका साथ देनेवाले ठग होते हैं, धोखेबाज होते हैं। वे खुद सुख लूटना चाहते हैं कि यह सुख हमें मिल जाय। सज्जन पुरुष दूसरेका हित करना चाहते हैं—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

'चलते हुए कोई गिर जाय, उसको चोट लग जाय तो दुष्ट पुरुष हँसेंगे, पर सज्जन पुरुष कहेंगे कि 'भाई! कहाँ लगी है? तुम्हें कहाँ जाना है? हम तुम्हें पहुँचा दें।' अतः दुःखदायी परिस्थितिमें सज्जन पुरुषोंका विशेष सहयोग मिलता है और हमारा अधिक विकास होता है।'

═══ ★ ═══

स्वाधीनताका रहस्य

मनुष्य-शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। इसके सामने जो भी परिस्थिति आती है, वह सब-की-सब साधन-सामग्री है। उसीके सदुपयोगसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। मनुष्यके मनमें रहती है कि परिस्थिति बदल जाय, शरीर ठीक नहीं है तो ठीक हो जाय, धन नहीं है तो धनवान् हो जायँ; ऐसी परिस्थिति हो जाय तो फिर हम भजन करें। वास्तवमें परिस्थितिके बदलनेकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। जैसी स्थितिमें स्थित हैं, उसी स्थितिमें परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है! सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिमें तो अलग-अलग स्थिति, योग्यता, परिस्थिति आदिकी आवश्यकता होती है! पर परमात्माकी प्राप्तिमें आपकी जो योग्यता है, जो स्थिति है, जो परिस्थिति है, उसीमें परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। कितनी विलक्षण बात है! केवल आपकी इच्छा चाहिये कि हमें एकमात्र परमात्माकी प्राप्ति करनी है। यह इच्छा प्रबल होनी चाहिये अर्थात् इस इच्छाके सिवाय दूसरी सम्पूर्ण इच्छाएँ नष्ट हो जायँ। भगवान्‌के लिये यह कहा गया है—**'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः'** (गीता ११।४३) 'आपके समान भी कोई नहीं है, फिर आपसे श्रेष्ठ कैसे होगा?' अतः वे परमात्मा सर्वोपरि हैं, इसलिये उनकी इच्छा भी सर्वोपरि होनी चाहिये।

परमात्मप्राप्तिकी एक ही उत्कट अभिलाषा हो। मैं जीता रहूँ, नीरोग हो जाऊँ, धनवान् हो जाऊँ, विद्वान् हो जाऊँ, योग्य बन जाऊँ; लोग मेरेको अच्छा मानें, मेरी महिमा गायें, मेरा आदर करें आदि कोई भी इच्छा न हो। कुछ भी योग्यता, विद्या आदि न होनेपर भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है—यह बात मेरेको बिलकुल स्पष्ट दीखती है। जितनी भिन्नता है, वह सांसारिक दृष्टिसे है। कोई योग्य है, कोई अयोग्य है; कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है; कोई धनवान् है,

कोई निर्धन है; कोई होशियार है, कोई भोलाभाला है—इस तरह संसारकी दृष्टिसे तो भिन्नता रहती है, परन्तु जब संसारका त्याग और परमात्माको प्राप्त करना हो, तब यह भिन्नता नहीं रहती। संसारकी कैसी ही अवस्था, परिस्थिति क्यों न हो, उसका मनसे त्याग करना है, उससे ऊँचा उठना है, उससे अपना कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखना है। जिसका त्याग ही करना है, वह चाहे बढ़िया हो, चाहे घटिया हो, उससे हमारा क्या सम्बन्ध ?

कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है; कोई धनवान् है, कोई निर्धन है, कोई योग्य है, कोई अयोग्य है—ये अवस्थाएँ संसारकी हैं। संसारसे विमुख होना है तो विद्वत्ता, धनवत्ता आदि भी छोड़नी है और मूर्खता, निर्धनता आदि भी छोड़नी है। कारण कि परमात्माकी प्राप्ति संसारके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत संसारके त्यागसे होती है। सांसारिक योग्यता आदि तो सीमित होती है, पर त्याग सीमित नहीं होता। त्याग असीम होता है, जिससे असीम परमात्माकी प्राप्ति होती है। अतः सांसारिक चीजोंका जो सहारा है, अन्तःकरणमें उनका जो महत्त्व है, उसका त्याग करना है। स्वरूपसे संसारका त्याग कोई कर सकता नहीं और करनेसे मुक्ति होती नहीं। अगर मुक्ति होती तो सब मरनेवालोंकी मुक्ति होनी चाहिये; क्योंकि वे शरीर, धन, परिवार आदिको छोड़कर जाते हैं और पीछे कोई तार, चिट्ठी, समाचारतक नहीं भेजते—इतना त्याग करते हैं! परन्तु ऐसे बाहरी त्यागसे मुक्ति नहीं होती। त्याग भीतरका होना चाहिये। भीतरमें जो राग, आसक्ति, प्रियता, महत्ता है, वही बन्धनका कारण है—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। जब भीतरसे सम्बन्ध-विच्छेद करना है, तो फिर वस्तु बढ़िया हो, घटिया हो; ज्यादा हो, कम हो—इससे क्या फर्क पड़ेगा ?

श्रोता—भगवान्‌ने यह संसार बनाया, तो फिर यह माया-जाल क्यों फैलाया ?

स्वामीजी—देखो, यह जो कहते हैं कि भगवान्‌की मायाने हमें फँसा दिया, वास्तवमें देखा जाय तो भगवान्‌की मायाने हमें नहीं फँसाया है। भगवान्‌की मायाको हमने अपनी मान लिया—इस बेईमानीने हमें फँसाया है ! जिन प्राणी-पदार्थोंको हम अपना मान लेते हैं, उनमें ही हम फँसते हैं। जिनको अपना नहीं मानते, उनमें हम नहीं फँसते।

श्रोता—आपने फरमाया कि भगवान् सबका कल्याण चाहते हैं ?

स्वामीजी—चाहते तो हैं, पर जबर्दस्ती नहीं करते। जो बड़े पुरुष होते हैं, वे जबर्दस्ती नहीं करते। भगवान् तो बड़ोंके सरदार हैं, वे जबर्दस्ती कैसे करेंगे ?

जैसा मैं कहूँ, जैसा मैं चाहूँ, दूसरा वैसा ही करे—यह बात तो पशुओंमें भी है। अच्छे पुरुषोंमें यह बात नहीं होती। अच्छे पुरुषोंको तो आप आग्रह करो, आप गरज करो, तब वे बड़े बनते हैं, गुरु बनते हैं। उनमें यह बात नहीं होती कि मैं ही सबका गुरु बन जाऊँ। मैं अपनी इच्छाके अनुसार दूसरेसे कार्य करा लूँ—यह अच्छी बात नहीं है, बहुत नीची बात है। भगवान् श्रीरामने जहाँ प्रजाको उपदेश दिया है, वहाँ भी साफ कहा है कि अगर मैं अनुचित बात कह दूँ तो तुम लोग भय छोड़कर मेरेको मना कर देना—

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई ॥

(मानस, उत्तर० ४३ । ३)

ऐसा कहनेका अर्थ यह हुआ कि मैं जैसा कहूँ, वैसा ही करो—यह बात नहीं है, आपको जो अच्छा लगे, वैसा करो। भगवान् किसीके साथ जबर्दस्ती नहीं करते।

आपको अस्पतालमें आपरेशन करवाना हो तो पहले यह लिखकर देना पड़ेगा कि अगर मैं मर जाऊँ तो कोई हर्ज नहीं है, तब

वे आपरेशन करेंगे। किसीसे भी काम कराना हो तो उसको पूरा अधिकार देना चाहिये। अधिकार देना हाथकी बात है, पर अधिकार लेना हाथकी बात नहीं है। अतः भगवान् किसीका अधिकार लेते नहीं हैं। भगवान् अर्जुनके घोड़े हाँकते हैं, उनकी आज्ञाका पालन करते हैं—**'सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्'** (गीता १। २४)। परन्तु उनको शरणमें नहीं लेते, प्रत्युत उनको शरणमें आनेके लिये कहते हैं—**'मामेकं शरणं व्रज'** (गीता १८। ६६)। शरणमें लेना भगवान्‌का काम नहीं है।*

भगवान् सबको स्वतन्त्रता देते हैं। उदार वही होता है जो सबको स्वतन्त्रता देता है, किसीपर भी अपना हक नहीं जमाता। जो दूसरोंपर हक जमाता है, वह नीचे दरजेका आदमी होता है। परन्तु आजकल लोगोंकी उलटी बुद्धि हो गयी कि अगर हम किसीपर हक जमायें तो हम बड़े आदमी हो जायँगे, दूसरे हमारा कहना मानें तो हम बड़े हो जायँगे! वास्तवमें तुम्हारा कहना माननेसे तुम गुलाम हो जाओगे, बड़े नहीं हो जाओगे। कहना माननेवाला मालिक हो जाता है और कहना मनानेवाला गुलाम हो जाता है। जो गुलामी कराना ही नहीं चाहता, कोई मेरा मातहत हो जाय—ऐसी इच्छा ही नहीं रखता, उसका भी अगर कोई कहना माने, उसके मनके अनुकूल चले तो उसको भी गुलाम बनना पड़ेगा। भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार चलनेवाला भक्त भगवान्‌का मुकुटमणि हो जाता है। भगवान् कहते हैं—***'भगत मेरे मुकुटमणि'***, **'अहं भक्तपराधीनः'** (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)। कोई नौकर मालिकके कहे अनुसार काम करता है तो वक्तपर मालिकको

---

* अर्जुन भगवान्‌को आज्ञा देते हैं कि दोनों सेनाओंके बीच मेरे रथको खड़ा करो—सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत' (गीता १। २१), तो भगवान् दोनों सेनाओंके बीचमें रथको खड़ा कर देते हैं।

उसकी बात माननी पड़ती है। अतः जो दूसरेको मातहत बनाता है, उसको परतन्त्रता भोगनी ही पड़ेगी—यह नियम है।

दूसरा मेरा कहना माने, मेरे कहनेके अनुसार चले, मेरे मनकी करे; मैं जैसा चाहूँ, वैसा हो जाय—इसीका नाम 'कामना' है। अपने मनकी करानेका नाम ही कामना है। कामनावाले व्यक्तिको कभी शान्ति नहीं मिलती—**'तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'** (गीता २।७०)। कामनाका त्याग करते ही तत्काल शान्ति मिलती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२।१२)। परन्तु आज उलटी बात हो रही है, शान्ति भी चाहते हैं और मनमें यह कामना भी रखते हैं कि स्त्री मेरा कहना करे, पुत्र मेरा कहना करे, माँ-बाप मेरा कहना करें, गुरुजी भी मेरा कहना करें। इतना ही नहीं, भगवान् भी मेरा कहना करें! हम भक्त हैं; अतः भगवान्‌को हमारा कहना करना चाहिये। नारदजीने भी यही कहा—***'करहु सो बेगि दास मैं तोरा'*** (मानस, बाल० १३२।४)। मैं आपका दास हूँ, जल्दी करो मेरा काम! सभी चाहते हैं कि दूसरा मेरा कहना करे, तो फिर कहना करेगा कौन? यह कहे कि वह मेरा कहना करे, वह कहे कि यह मेरा कहना करे, तो दोनों ही ठग हैं! दो ठगोंमें ठगाई नहीं होती। श्रेष्ठ, शूरवीर पुरुष वही है, जो दूसरेका कहना करे। मैं सबका कहना करूँ, ये जैसा कहें, वैसे करूँ—ये श्रेष्ठ पुरुषके लक्षण हैं। भगवान् सबसे श्रेष्ठ हैं तो वे कैसे कहेंगे कि तू यह कर, ऐसे कर?

कोई अच्छी बात है तो हम उसको दूसरेसे कराना क्यों चाहें? दूसरा अच्छा करना नहीं चाहता है क्या? उस बातको दूसरेके सामने रख दें कि अच्छी लगे तो करो, नहीं तो मत करो। भगवान्‌ने भी यही कहा है—***'सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई'*** (मानस, उत्तर० ४३।२)। वह करे अथवा न करे—इसमें हमें सम रहना है—**'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा'** (गीता २।४८)। अच्छी-से-अच्छी

बात सामने रख देना हमारा काम है, दूसरोंसे करवाना हमारा काम नहीं है। दूसरेसे करवायेंगे तो उसके पराधीन होना ही पड़ेगा, चाहे उसको मालूम पड़े चाहे न पड़े। वह हमारा कहना करे तो आनन्दकी बात, न करे तो बहुत आनन्दकी बात क्यों? कि वह कहना करेगा तो उसका मातहत बनना पड़ेगा, पर वह कहना करता ही नहीं तो हमारी छुट्टी हो गयी उससे! हम उससे बँधेंगे नहीं। जो कहें भी नहीं, चाहें भी नहीं ऐसे भगवान्, सन्त, महात्मा, विरक्त-त्यागी, जीवन्मुक्त महापुरुषोंके मनके अनुकूल भी कोई चले तो उनको भी बँधना पड़ता है, परवश होना पड़ता है।

भगवान् और उसके प्यारे भक्त दूसरेको मातहत नहीं बनाते। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे दूसरेकी दासतासे भयभीत होते हैं अर्थात् हमें मातहत बनना पड़ेगा—इस भयसे दूसरोंको आज्ञा नहीं देते। भक्त इस कारण दूसरोंको आज्ञा नहीं देते कि अगर दूसरा उनकी आज्ञा नहीं मानेगा तो उसका पतन हो जायगा; क्योंकि भक्त दूसरेसे कुछ भी चाहते नहीं, प्रत्युत केवल कृपापरवश होकर उसके हितकी ही बात कहते हैं। कई लोग ऐसा कहते हैं कि जो भक्ति करता है, उससे भगवान् डरते हैं; क्योंकि उनको भक्तके परवश होना पड़ेगा। यह बात नहीं है। भगवान्‌को तो भक्तके परवश होनेमें, भक्तका काम करनेमें आनन्द आता है।

वृन्दावनमें एक भक्तको बिहारीजीके दर्शन नहीं हुए। लोग कहते कि अरे! बिहारीजी सामने ही तो खड़े हैं! पर वह कहता कि भाई! मेरेको तो नहीं दीख रहे! इस तरह तीन दिन बीत गये, पर दर्शन नहीं हुए। उस भक्तने ऐसा विचार किया कि सबको दर्शन होते हैं और मेरेको नहीं होते, तो मैं बड़ा पापी हूँ कि ठाकुरजी दर्शन नहीं देते; अतः मेरेको यमुनाजीमें डूब जाना चाहिये। ऐसा विचार करके रात्रिके समय वह यमुनाजीकी तरफ चला। वहाँ यमुनाजीके पास एक कोढ़ी सोया

हुआ था। उसको भगवान्‌ने स्वप्नमें कहा कि अभी यहाँपर जो आदमी आयेगा, उसके तुम पैर पकड़ लेना। उसकी कृपासे तुम्हारा कोढ़ दूर हो जायगा। वह कोढ़ी उठकर बैठ गया। जैसे ही वह भक्त वहाँ आया, कोढ़ीने उसके पैर पकड़ लिये और कहा कि मेरा कोढ़ दूर करो। भक्त बोला कि अरे! मैं तो बड़ा पापी हूँ, ठाकुरजी मुझे दर्शन भी नहीं देते! बहुत झंझट किया; परन्तु कोढ़ीने उसको छोड़ा नहीं। अन्तमें कोढ़ीने कहा कि अच्छा, तुम इतना कह दो कि तुम्हारा कोढ़ दूर हो जाय। वह बोला कि इतनी हमारेमें योग्यता ही नहीं। कोढ़ीने जब बहुत आग्रह किया तब उसने कह दिया कि तुम्हारा कोढ़ दूर हो जाय। ऐसा कहते ही क्षणमात्रमें उसका कोढ़ दूर हो गया। तब उसने स्वप्नकी बात भक्तको सुना दी कि भगवान्‌ने ही स्वप्नमें मुझे ऐसा करनेके लिये कहा था। यह सुनकर भक्तने सोचा कि आज नहीं मरूँगा और लौटकर पीछे आया तो ठाकुरजीके दर्शन हो गये। उसने ठाकुरजीसे पूछा कि महाराज! पहले आपने दर्शन क्यों नहीं दिये? ठाकुरजीने कहा कि तुमने उम्रभर मेरे सामने कोई माँग नहीं रखी, मेरेसे कुछ चाहा नहीं; अतः मैं तुम्हें मुँह दिखानेलायक नहीं रहा! अब तुमने कह दिया कि इसका कोढ़ दूर कर दो, तो अब मैं मुँह दिखानेलायक हो गया! इसका क्या अर्थ हुआ? कि जो, कुछ भी नहीं चाहता, भगवान् उसके दास हो जाते हैं।

हनुमान्‌जीने भगवान्‌का कार्य किया तो भगवान् उनके दास, ऋणी हो गये—***'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं'*** (मानस, सुन्दर० ३२।४)। सेवा करनेवाला बड़ा हो जाता है और सेवा करानेवाला छोटा हो जाता है। परन्तु भगवान् और उनके प्यारे भक्तोंको छोटे होनेमें शर्म नहीं आती। वे जान करके छोटे होते हैं। छोटे बननेपर भी वास्तवमें वे छोटे होते ही नहीं और उनमें बड़प्पनका अभिमान होता ही नहीं।

——★——

कल्याण सहज है

अगर अपना कल्याण करना हो तो जितना हम जानते हैं, उससे अधिक जाननेकी जरूरत नहीं है और जितना हमें मिला है, उससे अधिक वस्तुकी जरूरत नहीं है। अगर आफत करनी हो, भोगोंमें फँसना हो, जन्म-मरणमें जाना हो, तब तो अधिक वस्तुओंकी जरूरत है। अगर अपना कल्याण चाहते हैं तो जितनी वस्तु मिली है, उतनी ही जरूरत है; और जितनी जरूरत है, उतनी ही वस्तु मिली है। अपने कल्याणके लिये जानकारी भी पूरी है, कम नहीं है। अतः न तो जानकारी बढ़ानेकी जरूरत है और न वस्तुओंका संग्रह बढ़ानेकी जरूरत है। जितना आपको मिला है, उसीमें आप अपना कल्याण कर सकते हैं—इसमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

यह शरीर, संसार पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा तथा उसके साथ हमारा सम्बन्ध भी पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा—यह सब जानते हैं। अतः शरीर-संसारका भरोसा नहीं रखना है, इनका आश्रय नहीं लेना है। ऐसे ही हमारे पास जितनी वस्तुएँ हैं, उन्हींका सदुपयोग करना है, उन्हींके द्वारा सबका हित करना है। अतः ज्यादा जाननेकी, ज्यादा वस्तुओंकी जरूरत ही नहीं है। कारण यह है कि भगवान्‌के विधानमें कमी नहीं है। भगवान् मात्र जीवोंके सुहृद् हैं। उन्होंने जीवोंके कल्याणके लिये मनुष्य-शरीर दिया तो उसमें अपने कल्याणके लिये ज्ञानकी कमी नहीं रखी, योग्यताकी कमी नहीं रखी। अगर इनकी कमी रखते तो 'मनुष्य-शरीर कल्याणके लिये दिया है'—यह कहना नहीं बनता।

कर्मोंके विधानसे देखा जाय तो जितनी आवश्यकता है, उतनी वस्तु मिली हुई है और उतनेसे ही अपना कल्याण हो सकता है। अधिककी आशा हमारेसे कौन रखेगा ? जो हम नहीं कर सकते, नहीं दे सकते, उसकी आशा कौन रखेगा ? जितना हम कर सकते हैं, दे

सकते हैं, उतना हम कर दें तो हमारा कल्याण हो जायगा—इसमें सन्देह नहीं है।

ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो हमारा सम्बन्ध किसी वस्तुके साथ है ही नहीं—यह ज्ञान सबमें है। जब सम्बन्ध है ही नहीं तो वस्तु कम और ज्यादा होनेसे क्या ? जितनी भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुएँ हैं, उनके साथ हमारा सम्बन्ध कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं—ऐसा ठीक अनुभव हो जाय तो कल्याण हो जायगा, तत्त्वज्ञान हो जायगा।

इस प्रकार भक्तियोगकी दृष्टिसे परम सुहृद् भगवान्का विधान होनेसे कमी नहीं है; कर्मयोगकी दृष्टिसे जो मिला हुआ है, पूरा-का-पूरा मिला हुआ है; और ज्ञानयोगकी दृष्टिसे क्रिया एवं पदार्थके साथ हमारा सम्बन्ध ही नहीं है। अतः नया जाननेकी, नया संग्रह करनेकी आवश्यकता नहीं है। अपने कल्याणके लिये हमारे पास पूरी सामग्री है, पूरा समय है। समयके लिये तो मैं कहता हूँ कि मनुष्य-जन्ममें समय इतना ज्यादा है कि उसके थोड़े-से हिस्सेसे कल्याण हो जाय। परमात्मप्राप्तिका काम तो कम है और समय बहुत ज्यादा है। यद्यपि एक बार कल्याण होनेपर फिर दुबारा कल्याण करना नहीं पड़ता, तथापि अगर करना पड़े तो पाँच, सात, दस बार कल्याण कर ले—इतना समय मनुष्यके पास है। सामग्री भी ज्यादा है। जितनी सामग्री है, उतनी काम आयेगी नहीं, उसको छोड़कर मरना पड़ेगा। कोई भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु अपनी थी नहीं, है नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं—यह बोध भी अपनेको है।

समय, समझ, सामग्री आदिकी किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं है। कमी केवल एक ही बात की है कि हम अपना कल्याण चाहते नहीं हैं। कल्याण तब होगा, जब हम स्वयं चाहेंगे, स्वयं विचार करेंगे। दूसरेके कहनेसे कल्याण नहीं होगा। दूसरेके कहनेसे भी कल्याण तब होगा, जब आप स्वयं उस बातको मानोगे अर्थात् वह बात आपकी

हो करके ही आपके काम आयेगी।

आपपर जितनी जिम्मेवारी है, उतना कर दो तो कल्याण हो जायगा। आप ज्यों-ज्यों बुद्धिमान् बनते हो, त्यों-त्यों जिम्मेवारी बढ़ती है। बुद्धि जितनी कम है, जिम्मेवारी भी उतनी ही कम है। टैक्स इन्कमपर ही लगता है। जगात मालपर ही लगती है। माल ही नहीं तो जगात कैसी ? आप जितनी जानकारी बढ़ाते हैं, जितना संग्रह करते हैं, उतनी ही आपकी जिम्मेदारी बढ़ती है।

अगर अपने कल्याणके लिये अधिक वस्तुकी आवश्यकता होती तो भगवान् अधिक दे देते। अधिक समझकी आवश्यकता होती तो अधिक दे देते। दे देते ही नहीं, दे दिया है ! भगवान्‌ने अधिक वस्तु दी है, अधिक बुद्धि दी है, अधिक समय दिया है, अधिक योग्यता दी है, अधिक बल दिया है। भगवान्‌का दरबार अनन्त, अपार है। बालकका पालन-पोषण करनेके लिये माँकी जितनी शक्ति है, वह सब-की-सब बालकके लिये ही है। ऐसे ही हमारे प्रभुकी जो शक्ति है, वह सब-की-सब हमारे लिये ही है। सर्वसमर्थ, अनन्त सामर्थ्यवाले, परम दयालु, परम उदार, परम कृपालु, परम सुहृद् प्रभुने जीवको उसके कल्याणके लिये मनुष्य-शरीर दिया है तो उसमें कमी किस बातकी ? केवल इस बातको स्वीकार करनेसे आपका रास्ता एकदम साफ हो जायगा। परन्तु चतुराई, चालाकी मत करो, सीधे-सरल हो जाओ—

सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥

(मानस, उत्तर॰ ४६। १)

जितना सरल होते हो, उतना रास्ता ठीक होता है। जितनी चतुराई करते हो, उतना रास्ता कठिन हो जाता है। जितना कर सकते हैं, उतना ही करना है। जितना जान सकते हैं, उतना ही जानना है। जितना मान सकते हैं, उतना ही मानना है। अधिक करने, जानने और माननेकी जरूरत नहीं है। जितना है, उसीका सदुपयोग करना है।

★